भ्रष्टाचार की पाठशाला

सत्यप्रकाश अग्रवाल 'उमंग'

रचनाएं सुघड़ और सुन्दर हैं और 'तबीयत' से लिखी गई हैं, मेरी बधाई स्वीकार करो। **आनन्दप्रकाश जैन, मुंबई**

व्यंग्य के आवश्यक कीटाणु आपके लेखन में हैं।

बालेन्दुशेखर तिवारी, रांची

मैं अब इतना वृद्ध हो गया हूं कि चश्मे की सहायता से भी कोई चीज़ आठ-दस मिनट से अधिक देर तक नहीं पढ़ पाता। परन्तु आपका व्यंग्य इतना रोचक था कि पढ़ता ही गया।

डॉ. हरदेव बाहरी, इलाहाबाद

आपके व्यंग्य में तीखापन है, जो विडंबनाओं की परत-दर-परत उखाड़ता चलता है। व्यंग्य में केवल विषयवस्तु के चयन का ही महत्त्व नहीं होता, भाषा भी महत्त्वपूर्ण होती है। रचनाओं में शब्द-चयन, वाक्य में शब्द का उचित स्थानांकन और अर्थ के विभिन्न स्तरों के अनुरूप शब्द की वक्र-भंगिमा का प्रयोग सोच-समझकर किया गया है। **विलास गुप्ते, इन्दौर**

आप में किस्सागोई कला, तदनुरूप भाषा-प्रयोग तथा रोचक अभिव्यक्ति है, जिससे कि इतनी बड़ी रचना भी एक ही बार (सांस) में पढ़ ली गई। **हरीश नवल, नई दिल्ली**

शैली बहुत ही प्रवाहयुक्त तथा पात्रों का चित्रण बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। पूरी रचना में सहजता और स्वाभाविकता भरी पड़ी है। आपकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति भी गज़ब की है। इससे रचना में बड़ी जीवन्तता तथा चित्रात्मकता आ गई है। लगता है कि सारी घटनाएं आंखों के सामने हो रही हैं।

द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी, आगरा

कहीं-कहीं बड़ी पैनी चोट है और सर्वत्र पाठक को बांध पाने की सक्षमता। बधाई स्वीकारें। **डॉ. पुष्पपाल सिंह, पटियाला**

गुणवत्ता और आकार — दोनों दृष्टि से रचनाएं उत्कृष्ट हैं, मेरी ओर से बधाई स्वीकार करें। **हरि जोशी, भोपाल**

संभवत: पिछले दस वर्षों में मुझे पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी व्यंग्य-रचना ('आकाश में सूराख') पढ़ने को नहीं मिली।

शंकर पुणताम्बेकर, जलगांव

आप में किसी स्थिति को रोचक विस्तार देने की क्षमता और प्रतिभा है। **लतीफ घोंघी/ईश्वर शर्मा, महासमुन्द**

मैं आपको इस अच्छी रचना ('अक्ल बड़ी या भैंस') के लिए बहुत-बहुत बधाई देना चाहूंगा। किस प्रकार एक लोकतांत्रिक आन्दोलन भटकता जाता है या कि भटका दिया जाता है, इसका आपने इसमें बड़े प्रभावशाली तरीके से वर्णन किया है। एक बार पुन: बधाई स्वीकार करें। **डॉ. विजय अग्रवाल, नई दिल्ली**

भ्रष्टाचार की पाठशाला

प्रो० राजेन्द्र कुमार वर्मा जी
की प्रतिष्ठा में,

लेखक के विनम्र अभिनन्दन सहित।

[illegible]
1.10.96.

भ्रष्टाचार की पाठशाला
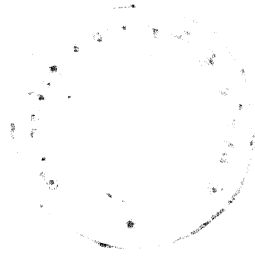
सत्यप्रकाश अग्रवाल 'उमंग'

बालसखा श्री रमेशकुमार माहेश्वरी की याद को

जो वर्ष 1965 की अल्पावधि में मुझे छोड़कर चला गया था लेकिन एक लेखक के सभी संस्कार मुझमें भर गया था। निरंतर लगभग तीस वर्षों तक जिन्हें दबाए-छिपाए रखकर मैंने जिस निर्मोही के साथ आज तक विश्वासघात ही किया है।

–सत्यप्रकाश अग्रवाल 'उमंग'
रघु भवन,
1127, पी. एल. शर्मा रोड
मेरठ–250001

प्रारम्भिक वार्ता

मेरा पहला व्यंग्य-संग्रह आपके हाथों में है। इसका शीर्षक 'भ्रष्टाचार' से इसलिए संबंधित है कि यही वह 'अचार' है जो आजकल बेहद पंसद किया जा रहा है, जी भरकर खाया जाता है और जी भरकर खिलाया जाता है। प्रजातंत्र के चारों स्तंभ आजकल इस अचार के चटखारे ले रहे हैं। कुछ खा-खिलाकर, कुछ चर्चा करके और शेष उपचार-हेतु। बचा कोई नहीं है। अछूता कोई नहीं रहा। फिर भला मेरा यह व्यंग्य-संग्रह कैसे बच पाता!

मैंने इसमें कुछ नया नहीं कहा है। शायद एक भी बात ऐसी न होगी जिसे आप पहले से न जानते हों, न सुना हो, न भोगा हो, न सहा हो। लेकिन जिन बातों को आप सुन-समझ, भोग और सहकर भी चुप लगा गए थे, मैंने उन्हें बस लिपिबद्ध कर दिया है—अपनी भाषा में नहीं, आपकी भाषा में। इसलिए नहीं कि मैं आपको आईना दिखाना चाहता हूं। भला मेरी ऐसी जुर्रत! बस, इसलिए कि सनद रहे और वक्त जरूरत काम आए।

हां, देखने के कोण का अंतर हो सकता है। जो गिलास आधा भरा हुआ होता है वह गिलास आधा खाली भी होता है। अब आप उसे आधा खाली कहें या आधा भरा हुआ, यह आपके दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। मैंने जीवन को, घटनाओं को, स्थितियों को, विसंगतियों को अपने कोण से देखा है। आपको उससे असहमत होने का पूरा अधिकार है। आप आधे खाली गिलास को दावे के साथ 'आधा भरा हुआ' कह सकते हैं। मैं आपके सभी दावों से सहमत हो जाऊंगा। लेकिन अगर मेरा 'कोण' कहीं आपको सहला जाए, चुभ जाए, टीस दे जाए या गुदगुदा जाए तो मैं अपने को सौभाग्यशाली समझूंगा।

अध्ययन-काल में लगभग 1960-65 के बीच बालसखा स्व० श्री रमेश-कुमार माहेश्वरी, अग्रज श्री आनन्दप्रकाश जैन, स्व० लाडली मोहन, कविवर भारतभूषण आदि साहित्यकार बंधुओं के सान्निध्य और संगत ने जो संस्कार दिए थे, वे लगभग तीस वर्ष तक व्यापारिक व्यस्तताओं के नीचे दबे-ढंके रहे थे। हां, उन पर व्यावहारिक अनुभवों की परतें जरूर चढ़ती रही होंगी। एम० ए० (हिंदी) के सहपाठी और वर्तमान में मेरठ कॉलेज के हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ०

मानसिंह वर्मा ने इस दबी-ढंकी चिनगारी को न जाने कैसे भांप लिया और पूरे मनोयोग से कुरेद दिया। पंखा झलने का काम किया मेरे एक परिचित श्री अमरनाथ ने। वही अंगारा भभककर जल उठा है इस व्यंग्य संग्रह 'भ्रष्टाचार की पाठशाला' में। कभी-कभी मुझे लगता है कि यदि ये दोनों महानुभाव मेरे दबे-ढंके संस्कारों को कुरेदकर हवा न देते तो संभवतया मैं लेखन के लिए समय न निकाल पाता। इस दृष्टिकोण से इनका योगदान महत्त्वपूर्ण है और मेरा लेखन-धर्म इनका अनुगृहीत है। जब लेनदार सशक्त होता है तो देनदार बच नहीं पाता। सोचता हूं, अनुभवों से जीवन में जो पाया है, उसे लगे हाथों लिख-पढ़कर मय सूद वापस लौटा दूं।

संकलन के अधिकांश व्यंग्यों को अमर उजाला, सबरंग, नवभारत टाइम्स, कादंबिनी आदि पत्र-पत्रिकाओं ने समय-समय पर चाव से छापा है और पाठकों ने ढेर पत्रों से सराहा है।

संग्रह आपके हाथों में है। प्रतिक्रिया पर आपका एकाधिकार है। मेरे हिस्से में अगर दो-चार कंकड़-पत्थर आ जाएं तो उन्हें मैं सहेज कर फाइल कवर में रख लूंगा। भविष्य के लेखन के लिए वही मेरी ऊर्जा होंगे।

सत्यप्रकाश अग्रवाल 'उमंग'

क्रम

भ्रष्टाचार की पाठशाला

आकाश में सूराख

हिंदी गज़ल को शोहरत दिलाने वाले प्रख्यात शायर स्व॰ दुष्यंत का नामी-गिरामी शेर पढ़कर अनोखेलाल जी तैश खा गए। शेर था–

"कौन कहता है आकाश में सूराख नहीं हो सकता,
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो, यारो!"

क्या जमाना आ गया है! क्या जानदार शेर है! सभी लोहा मानते हैं, पर अभी तक आसमान में सूराख नहीं हुआ। लोग-बाग कितने काहिल और नाकारा हो गए हैं। मज़ा ले-लेकर शेर तो पढ़ते हैं, गुनगुनाते हैं, सुनते हैं, सुनाते हैं, दाद देते हैं, दाद लेते हैं लेकिन पत्थर उछालने की जहमत नहीं उठाते। सूराख नहीं करते। भला क्यों?

अरे भई, शेर कहा है और काबिले-दाद कहा है तो फिर कर दो सूराख आसमान में। यह कोई गैरकानूनी काम तो है नहीं जो डरा जाए। किसी आई॰ पी॰ सी॰ में आसमान में सूराख करने पर किसी दंड का प्रावधान नहीं है, फिर सूराख क्यों नहीं हो रहा है आसमान में। इस तरफ अब तक किसी ने गौर क्यों नहीं किया? न्यूटन से पहले पेड़ से फल गिरने पर भी किसी ने गौर नहीं फरमाया था। आदिकाल से फल पेड़ से पृथ्वी पर ही गिर रहे थे और इस पर गौर फरमाने के लिए न्यूटन का इंतजार कर रहे थे। शायद आसमान में सूराख करने के लिए उनका ही जन्म-जन्मान्तर से इंतजार हो रहा है, यह सोचकर अनोखेलाल जी ने पत्थर उछालने की ठान ली।

सबसे पहले एक अदद पत्थर की जरूरत दरपेश हुई। शायर महोदय ने पत्थर के आकार-प्रकार, लंबाई-चौड़ाई, छोट-बड़ाई पर कोई रोशनी नहीं डाली थी। शायद यह पत्थर उछालनेवाले की सामर्थ्य और श्रद्धा पर छोड़ दिया हो या फिर सोचा होगा कि जितना बड़ा सूराख करना चाहेगा उतना ही बड़ा पत्थर अपने आप चुन लेगा। कुछ भी हो, यह गहन गंभीर विषय था कि पत्थर कैसा हो? कितना बड़ा हो? आखिर को अनोखेलाल जी एक ऐतिहासिक काम करने जा रहे थे आसमान में सूराख करने का। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की खोज से

अगर बड़ा नहीं तो उससे कम भी नहीं। बस, समकक्ष समझो। बाद को चर्चा होगी, परिचर्चा होगी कि पत्थर का चुनाव कैसे हुआ। इस पर मतभेद होंगे। विद्वान लोग दो खेमों में बटेंगे। आपस में कीचड़ उछालेंगे। वाद-विवाद करेंगे। इस सबसे अच्छा है कि पहले से ही पत्थर का उपयुक्त चुनाव किया जाए और उसे सुदृढ़ आधार प्रदान कर दिया जाए ताकि कल को यह मुद्दा नोक-झोंक का विषय न बन सके। लाखों-करोड़ों रुपये का कागज, स्याही, समय और दिमाग फिजूल खर्च न हो। सो, अनोखेलाल जी पत्थर के चुनाव का सुदृढ़ आधार खोजने पर लग गये।

गंभीर विषयों पर सलाह-मशवरों से अनोखेलाल जी को परहेज नहीं होता। यह उनकी उदार आदत है। समस्या अकेले उनका ही सिर क्यों खाये। परेशानी में सहअस्तित्व और सहकारिता के सिद्धांत के वह कायल हैं। सो मेरे पास आ टपके। "भाई साहब! पत्थर के विषय में आपका मशवरा चाहता हूं।"

संदर्भ से अनभिज्ञ हमने जिज्ञासा की, "आंगन में लगवाना है?"

"नहीं, उछालना है"। उनका सहज संक्षिप्त उत्तर था।

हमारे सारे रोम-छिद्र सतर्क हो गए। हम अनोखेलाल जी के पड़ोसी हैं और वह उछालने के लिए पत्थर पर मशवरा चाह रहे थे। सीधी-सीधी धमकी थी, चेतावनी थी या फिर आक्रोश था। पर जो भी था उसका सिर-पैर हमें ज्ञात न था। सो सारा ध्यान केंद्रित करके पूछा, "क्या मामला है? हमसे कुछ गलती हो गयी?"

अनोखेलाल जी ने उसी गंभीरता से उत्तर दिया, "आपसे कोई गलती नहीं हुई है, पर मुझे ही एक पत्थर उछालकर आसमान में छेद करना है।" और विस्तार से अपनी समस्या सुना दी।

मामला अत्यंत ऐतिहासिक था। गिनीज़ बुक रिकार्ड से निकलकर नोबल प्राइज की संभावनाओं तक से जुड़ा था। न्यूटन की असली औलाद प्रसव-गृह में छटपटा रही थी। सो हम भी गंभीर हो गए। सुझाव दिया, "पत्थर कम-से-कम संगमरमर का तो होना ही चाहिए जो आकाश में छेद कर जब स्वर्गलोक में जाए तो पृथ्वी की उन्नति एवं भव्यता का सही प्रतिनिधित्व कर सके।"

सुझाव अनोखेलाल जी को भाया। उन्होंने सहमत होते हुए आगे पूछा, "और आकार-प्रकार? लंबाई-चौड़ाई?"

हमने फिर गंभीर मंथन किया, "ऐसा होना चाहिए कि अगर स्वर्गलोक में किसी को लग भी जाए तो गंभीर चोट न आए। इससे दोनों लोकों की सद्भावना पर आंच नहीं आ पाएगी। मधुर संबंध बने रहेंगे। वरना समझ लो, मृत्यु के बाद कोई स्वर्ग में घुसने भी नहीं देगा।"

सुझाव सतर्क था। प्रतिवाद की गुंजाइश न थी, सो स्वीकार हो गया।

आसमान में सूराख करने के लिए एक छोटा गोल संगमरमरी पत्थर काफी देखभाल करके अनोखेलाल जी बाजार से खरीद लाए।

आकाश में सूराख करने के बाद ऐतिहासिक पत्थर की भूलोक पर वापस लौट आने की कोई संभावना नहीं थी। भविष्य में इस ऐतिहासिक पत्थर पर बड़ी-बड़ी टीका-टिप्पणियाँ भी संभावित थीं। इन पर अखबारों का टनों काग़ज़ काला-पीला या लाल-नीला हो सकता था। अत: एहतियात के तौर पर और मीडिया की सुलभता के लिए अनोखेलाल जी ने इस संगमरमरी पत्थर के चार एंगिलों से चार कलर्ड फोटो खिंचवा लिये।

मान्यता प्राप्त प्रकांड पंडित ज्योतिषाचार्य से शुभ-मुहूर्त निकलवाया गया और ठीक शुभ मुहूर्त पर एक वीडियो कैमरे सहित अनोखेलाल जी अपने मकान की सबसे ऊंची छत पर चढ़ गए। कैमरामैन के अतिरिक्त साक्षी के लिए मुझे भी साथ रखा गया था। इस ऐतिहासिक घटना के प्रत्यक्षदर्शी होने का लोभ अनोखेलाल जी के घर-परिवारवाले भी संवरण नहीं कर पाए थे। वे भी दल-बल सहित छत पर आ जमे थे।

अनोखेलाल जी फिर भी कुछ आशंकित-से थे। अगर पत्थर ने आकाश में सूराख नहीं किया? इतना बड़ा शायर झूठ तो नहीं बोल सकता। पृथ्वीलोक की इतनी सारी जनता क्या बेबात ही शेर की इतने सालों से दाद दे रही है। अरे, शेर की जान उसकी यह सच्चाई ही तो है जो सारी जनता को इसका कायल किए हुए है।

अनोखेलाल जी ने प्रश्नवाचक निगाह से मेरी ओर देखा, मानो पूछ रहे हों, "उछालूं?"

मैंने मन-ही-मन एक बार शेर को फिर दोहराया। इसमें 'तबीयत से' पर बहुत जोर था। सो मैंने आगाह किया, "पंडित जी, पत्थर को 'तबीयत से' उछालना है। अगर तबीयत से न उछाला गया तो शायर आकाश में सूराख का जिम्मेदार नहीं होगा।"

अनोखेलाल जी थोड़ा उलझ गए। शायद मन ही मन वह भी शेर को दोहरा रहे थे और शेर में 'तबीयत से' के वजन की नाप-जोख कर रहे थे। संभलकर बोले, "शायर ने तो सारा जोर ही तबीयत पर डाल रखा है।"

"तो क्या हुआ, आप भी सारा जोर तबीयत पर ही डाल दो।" मैंने सुझाव दिया।

दर्शक-दीर्घा से श्रीमती जी लगभग चिल्लाईं, "क्यों देरी कर रहे हो? शुभ मुहूर्त निकला जा रहा है। उछालो ना!"

अनोखेलाल जी ने संशय में डूबकर फिर प्रश्न किया, "अब मैं इस तबीयत को कहां से लाऊं?"

उलाहना दिया, "वाह पंडित जी, इतिहास में नाम लिखाने जा रहे हो त नहीं लगा सकते। अरे, न्यूटन के वंशज क्या मुफ्त में बन जाओगे? दो पूरी तबीयत इस पत्थर को उछालने में।"

जी कसमसाए। हाथ-पैरों को झटका, पटका। मुद्राओं को श्रेष्ठतम ी तरह हिलाया-जुलाया, पर पत्थर न उछाल सके। बोले, "मैं पूरा गा सकता हूं लेकिन पूरी तबीयत नहीं लगा पा रहा हूं।"

ो कैमरा ऑन था और भावी न्यूटन की प्रत्येक गतिविधि को नोट ा। इस मुकाम पर यह निर्बलता पंडित जी को शोभा नहीं दे रही ावी इतिहासपुरुष के लिए यह निंदनीय बात थी। लेकिन सूराख होने र की सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त ही 'तबीयत' थी। मैंने अनोखेलाल जी त किया, "आप कोशिश तो करो, तबीयत लग जाएगी। सोचो, कि ान में सूराख हो गया तो आपका नोबल प्राइज़ पक्का है। संसार में गा ही, आसमान में भी आपकी ख्याति पहुंच जाएगी।"

लाल जी शायद प्रोत्साहित हुए थे। फिर से एथेलीट की भाव- नें अपने सारे शरीर को तोड़ा-मरोड़ा। हाथों को चहुंदिश घुमाया और ा करने की पूरी चेष्टा की। लेकिन जगतप्रसिद्ध होने का यह प्रलोभन तबीयत पैदा न कर सका। अनोखेलाल जी अभी भी संशय में गोते ।

ों में खड़ी उनकी श्रीमती आतुर हो चली थीं। शुभ-मुहूर्त जो निकला था। दीर्घा छोड़कर वह पंडित जी के पास लपकी और अपनी त आधिकारिक मुद्रा में गुर्राई, "उछालते हो कि नहीं?"

खेलाल जी अपनी धर्मपत्नी के रौद्र रूप से कुछ आतंकित हुए और रा जोर लगाकर घुमाकर पत्थर आकाश की ओर उछाल दिया।

ऐतिहासिक पत्थर कई मीटर उड़ा और फिर पलटकर मेरी ही दुछत्ती ड़की के शीशों से जा टकराया। होनी होकर ही रही। कांच से टकराने जोरदार आवाज़ हुई और खिड़की का शीशा टूटकर फर्श पर बिखर नि घबराकर आंखें मूंद लीं, लेकिन वीडियो ने इस सारी ऐतिहासिक को अपनी आंखों में कैद कर लिया था।

थर आकाश में सुराख करने के बजाए मेरी खिड़की में सुराख कर गया सिद्ध शायर का प्रसिद्ध शेर कामयाब रहा। अगर नाकामयाब रहे तो सिर्फ ाल जी जो पत्थर को जोर से उछाल सके थे पर तबीयत से नहीं उछाल ।

नोखेलाल जी ने मेरे कंधों पर हाथ रखकर कहा, "यार, शायर ने बड़ी शर्त लगा रखी है 'तबीयत से'। भला तबीयत से कुछ करना कोई आसान

श्रव
स्त्रि
मह
हो
से
न
भी
के
ग
मैं
वा
स
जि-
की
क
था
मह
कह
नहीं
श्व

बात है। अरे, तबीयत से कुछ करना तो आकाश में छेद करने से भी मुश्किल है।''

इस सारे कांड में मैं अपनी दुछत्ती के शीशे के शव पर अफसोस तक नहीं कर पा रहा था। बस, एक अच्छे पड़ोसी की तरह अनोखेलाल जी से सहमत होने को विवश था।

भ्रष्टाचार की पाठशाला

श्वसुर साहब ने नये दामाद के घर की बदहाली देखकर मन-ही-मन अपना सिर पीट लिया। दीपावली की मिठाई देने गए थे। सोच रहे थे कि पिछले छह महीनों में तो घर की कायापलट हो गयी होगी। दीवारों पर रंग-बिरंगी पुताई हो गयी होगी, फर्शों पर रगड़ाई और अलमारियों पर शीशे चढ़ गए होंगे। करीने से रखा नया-नवेला फर्नीचर दमक रहा होगा। लेकिन यहां तो सभी कुछ उलटा नज़र आया। दीवारों से प्लास्टर और उखड़ गया था, फर्शों का रहा-सहा दाना भी उभर आया था और अलमारियां शीशों का साथ ही छोड़ चुकी थीं। फर्नीचर के नाम पर गिनती के चार मूढ़े और एक लंगड़ी मेज भर थी। लगा, कहीं कोई गलती जरूरी हो रही थी। श्वसुर साहब सोच में डूब गए।

श्वसुर साहब ने सैकड़ों सम्भावित उम्मीदवारों में से यह दामाद चुना था। मैनेजर तक की प्राइवेट नौकरी वाले को पीछे धकेलकर यह सरकारी नौकरी वाला दामाद तलाशा था। सोचा था कि छोकरी सारा जीवन सुख पाएगी। सरकारी नौकरी भी कोई साधारण नहीं। राज्य विद्युत् परिषद का अवर अभियंता, जिसे सभी आदर से 'जे॰ ई॰ साहब' कहते हैं। छह-छह और आठ-आठ हजार की प्रारंभिक तनख्वाह वालों को इस जे॰ ई॰ के सामने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था, "देखते रहना सालभर में दलिद्दर दूर कर देगा!" और यह दामाद था कि श्वसुर साहब के सारे सपनों और उम्मीदों को रौंदता हुआ आज छह महीने बाद भी अपनी बदहाली की कहानी ही सुना रहा था। निश्चित रूप से कहीं-न-कहीं कोई गलती जरूरी हो रही थी। श्वसुर साहब आशंकित हो उठे।

मौका ढूंढ़कर दामाद का इंटरव्यू लिया, "लगता है आजकल दफ्तर में काम नहीं है?"

"काम तो बहुत है।"

"फिर क्या तुम्हें तुम्हारा हिस्सा नहीं मिलता?"

"कैसा हिस्सा?" दामाद जी जैसे कुछ न समझ सके थे।

"अरे भाई, कमीशन में हिस्सा। विभाग में कमीशन भी तो आता है।" श्वसुर साहब ने खुलासा किया।

"आप भी कैसी बातें करते हैं!" दामाद ने टाल दिया। नाजुक रिश्ते की मर्यादाएं लांघकर श्वसुर साहब इससे आगे न बढ़ सके। बात आयी-गयी हो गई, पर टीस सालती रही। आखिर बेटी के भविष्य का सवाल था।

समय देखकर बेटी को समझाया, "लगता है दामाद जी अभी सरकारी नौकरी के तौर-तरीकों से वाकिफ नहीं हैं। आजकल कोरी तनख्वाह पर कौन गुजर करता है। विभागीय कमीशन में उनका हिस्सा तो लगना ही चाहिए। दिन-रात नये कनेक्शन लगते हैं। मुफ्त में कनेक्शन दिए जाते हैं क्या?"

"मेरी तो इस बारे में सुनते ही नहीं। छेड़ते ही भड़क जाते हैं। कहते हैं- यह गांधी का देश है, तुम मुझे रिश्वत लेने के लिए कहती हो। मैं रिश्वत खाने से जहर खाना अच्छा समझता हूं।" बेटी ने उनकी विचारधारा स्पष्ट कर दी थी।

श्वसुर साहब ने भी अधिक कुरेदना ठीक नहीं समझा। बेटी के दाम्पत्य संबंधों की संवेदनशीलता से वह यथासंभव बचकर रहना चाहते थे। समझ गए कि दामाद जी पर अभी आदर्शवाद का कच्चा रंग चढ़ा है। यथार्थ की बारिश जब तक नहीं होगी, धुल नहीं पाएगा। और जब तक यह रंग नहीं उतरेगा, घर की दीवारें नहीं पुतेंगी। मानसून आने तक बेटी कष्ट ही उठाएगी। उन्हें कुछ करना ही चाहिए।

याद आया कि उस शहर में उनके बचपन के एक सहपाठी भी बसते हैं। विद्युत विभाग में ही अधिशासी अभियंता हैं। हाईस्कूल में साथ पढ़ते थे। फिर बिछुड़ गए। आड़े वक्त अपने ही काम आते हैं। सो मिलने चल दिए।

बचपन के सहपाठी ने गले से लगा लिया। उलाहने हुए। ताने हुए। चाय हुई। नाश्ता हुआ। फिर पुरानी यादें ताजा की गयीं। अधिशासी अभियंता यह जानकर प्रसन्न हुए कि पुराने सहपाठी का नया दामाद उनके शहर में विद्युत विभाग में ही अवर अभियंता है। श्वसुर जी ने अपनी दुश्चिंता से अवगत कराया। विद्युत अभियंता ने समस्या की गहराई को समझा, नापा और दामाद जी को अपने ही खण्ड में स्थानांतरित कराने का वादा कर लिया। पुराने भद्दे रंगों को धोने-पोंछने की जिम्मेदारी भी ओढ़ ली। अनुभवी श्वसुर आश्वस्त होकर लौटे।

कौल-करार में यह तय पाया गया था कि दामाद जी के व्यावहारिक ज्ञान की प्रोग्रेस रिपोर्ट निरंतर श्वसुर जी को मिलती रहेगी। अत: पहला पत्र दो महीने के अंदर ही मिल गया, "कुंवर जी अब मेरे विभाग में आ गए हैं। झटके खा-खाकर पहली सीढ़ी चढ़ पाए हैं। समझो, अभी नर्सरी कक्षा पास की है, वह भी गिरे-पड़े अंकों से। पर निराश न होना। ईश्वर महान है। जल्द ही सद्बुद्धि देगा।"

श्वसुर जी की भी ईश्वर में आस्था थी और उसकी लीलाओं में पूर्ण विश्वास। दामाद जी के पहले परीक्षाफल पर वह पांच रुपये का हनुमान जी पर प्रसाद चढ़ा आए।

कुछ ही दिनों में दूसरा पत्र मिला, "भाषाज्ञान प्राप्त कर लिया है। अक्षर और वाक्य भी पहचानने लगे हैं। समझो कि प्राइमरी शिक्षा पास कर ली है। होनहार विद्यार्थी के सभी लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भविष्य उज्ज्वल दिखता है।"

श्वसुर जी ने संतोष की गहरी सांस ली। भला उनका चुनाव गलत कैसे हो सकता था!

अब पत्र जल्दी-जल्दी आने लगे थे। दामाद जी ने हाईस्कूल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया था। इण्टरमीडिएट में भी अपना प्रतिशत बनाए रखा था। पर स्नातक होते-होते सभी बुलंदियों को लांघते हुए असाधारण मानदण्ड स्थापित किए थे। मित्र अभियंता का कथन था कि कम-से-कम 90% अंक प्राप्त किए हैं और दावा था कि अब क्या, भविष्य में भी कुंवर जी को कोई नहीं पछाड़ सकेगा। अब वह सब के कान काटने की योग्यता रखते हैं।

श्वसुर का सीना गर्व से फूल गया। उन्होंने सहपाठी अभियन्ता को गरमागरम धन्यवाद का पत्र लिखा और उद्यापन करके सारी कॉलोनी में मिठाई बंटवा दी। अब जाकर वह बेटी और उसके घर-परिवार की चिंता से मुक्त हुए थे।

एक दिन बेटी का पत्र मिला, "आदरणीय पिता जी, इनकी पदोन्नति सहायक अभियन्ता के पद पर हो गयी है। साथ ही आपके शहर के लिए तबादला भी। ये कह रहे थे कि उस शहर में विभागीय आवासों की कमी है। वह नहीं मिल पाएगा। अत: आप एक अच्छा-सा घर ढूंढ़ रखिएगा। किराए की चिंता नहीं है, चाहे जो हो पर घर बड़ा और अच्छा होना चाहिए। अगले शनिवार को हम सामान सहित पहुंच रहे हैं।–आपकी बेटी।"

पढ़कर श्वसुर जी के हर्ष का पारावार न रहा। बेटी और दामाद अपने ही शहर में आ रहे हैं। अब आएगा असली मजा सही दामाद के चुनाव का। भागदौड़ कर और अपना पूरा प्रभाव दांव पर लगाकर चार कमरों और ड्राइंग रूम के एक बड़े-से मकान का जुगाड़ कर दिया। किराया ज्यादा था–अवर अभियन्ता की तनख्वाह के बराबर। पर बेटी के पत्र से पिताश्री कुछ ऐसा ही समझ पाए थे। इसलिए उन्होंने किराए की चिंता नहीं की।

अगले शनिवार को बेटी और दामाद जी उतरे। साथ में चार बड़े-बड़े ट्रंक सामान से लदे थे। उस सामान के सामने यह बड़ा मकान भी छोटा पड़ गया। दामाद जी ने मुंह बिचका लिया। श्वसुर जी का सीना फूलकर ढाई इंच चौड़ा हो गया। उन्हें लगा कि अभियन्ता सहपाठी ने सचमुच हक अदा किया था।

उसकी शिक्षा-दीक्षा में कोई कसर नहीं रही थी। और बड़ा मकान खोज देने का मन-ही-मन निश्चय करके श्वसुर जी ने फिलहाल किसी तरह सारा सामान इस छोटे पड़ते मकान में ही ठूंस दिया।

अब अपने ही शहर में श्वसुर जी विद्युत सहायक अभियन्ता के श्वसुर जी कहलाने लगे। दो साल से अपना एक नया मकान बनवा रहे थे। अब जाकर तैयारी पर आया था। उसके विद्युतीकरण की अब कोई चिन्ता नहीं रह गयी थी। सहायक अभियन्ता तो अपने घर के ही थे। जिस दिन चाहेंगे, बिजली आ जाएगी। सो उन्होंने निश्चिंत होकर मकान पूरा कराया।

फिर एक दिन बिजली लगवाने का इरादा कर श्वसुर साहब ने दामाद जी से पूछा, "बेटा, नये मकान में कितने किलोवाट का कनेक्शन ठीक रहेगा?"

"पिता जी, पांच किलोवाट ठीक रहेगा। तीन फेस का कनेक्शन मिल जाएगा। मीटर भी तीस एम्पीअर का लग जाएगा। आप गर्मियों में ए॰ सी॰ भी चला सकेंगे।" दामाद का विनम्र उत्तर था।

श्वसुर जी का दिल बल्लियों उछल गया। प्यार से फिर पूछा, "मुझे क्या करना होगा?"

"कुछ नहीं, बस एक फार्म भरा जाएगा और दो फोटो लगेंगे।" सहज उत्तर था। श्वसुर जी बलिहारी हो गए।

अपना सबसे नया सफारी-सूट पहनकर श्वसुर साहब दामाद के ऑफिस पहुंचे। वहां स्टॉफ रूम में ही लपक लिये गए। दामाद जी का सारा स्टॉफ वी॰ आई॰ पी॰ ड्यूटी पर मुस्तैदी के साथ लग गया। बड़े बाबू ने उन्हें अपनी सीट पर बैठाया। चाय आयी। साथ ही एक चमचा कर्मचारी बिना कहे कोल्ड ड्रिंक भी ले आया। पांच मिनट के अन्तर से श्वसुर साहब को गरम और ठंडा दोनों पीने पड़े। सम्मान का प्रश्न जो था। बड़े बाबू ने अपने हाथ से फार्म निकाल कर भर दिया। गोंद लगाकर फोटो चिपका दिए। चाहते तो वह यहां तक थे कि श्वसुर साहब के हस्ताक्षर तक कर दें, इसके लिए भी उन्हें कष्ट न देना पड़े; पर उन्होंने पैन निकाल लिया था, सो फार्म उनकी ओर सरकाना पड़ा। बड़े बाबू ने मिश्री-घुले शब्दों में बताया कि अब यह फार्म उनके साहब की आख्या सहिता अधिशासी अभियंता के पास अनुमति हेतु जाएगा-महज औपचारिकता पूरी करने। और फिर नया कनेक्शन लग जाएगा।

सारी कार्यवाही इतनी अभूतपूर्व और सम्मानजनक थी कि श्वसुर साहब को सरकारी समय में व्यस्त दामाद का ध्यान भंग करना उचित नहीं जंचा। वह सीना फुलाए घर लौट आए। घर पर श्रीमती जी ने कटाक्ष किया, "उमर के साथ तुम्हारा तो पेट की बजाए सीना फूले चला जा रहा है, जी। दामाद जी क्या कोई खास निशास्ता घोटकर पिलाते हैं आपको!"

"मैं न कहता था लाखों में एक दामाद चुना है मैंने। आज जिंदगी का मज़ा आ गया।" श्वसुर जी ने सीना चौड़ा कर दिखा दिया।

दो-चार दिन बाद जब चाय और ठंडे का खुमार कुछ हल्का पड़ा तो श्वसुर जी फिर टहलते हुए बिजली के दफ्तर पहुंचे। बड़े बाबू और स्टॉफ ने फिर उन्हें सम्मान सहित लपक लिया। फिर ठंडा-गरम एक साथ हुआ। फाइल की अप-टू-डेट जानकारी दी गयी जो अधिशासी अभियंता के पास औपचारिक अनुमति के लिए गयी हुई थी।

कुछ सोचकर श्वसुर साहब ने अधिशासी अभियन्ता से मिलना उचित समझा। दफ्तर में आए हुए थे ही, उनके कमरे की ओर भी हो लिये। सहायक अभियन्ता के श्वसुर साहब तशरीफ लाए हैं, यह जानकर अधिशासी अभियंता ने तुरंत उन्हें अंदर बुलवा भेजा। आदर सहित कुर्सी दी। तुरंत फाइल निकलवाई। जबरदस्ती फिर चाय पिलवाई और दामाद जी की तारीफों के पुल बांध दिए। उनकी मुक्त प्रशंसा का केंद्रबिंदु था दामाद जी का व्यावहारिक ज्ञान और उसके उपयोग की दक्षता। पांच किलोवाट का घरेलू लोड सेंक्शन करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सराहा, "अपनी बीस साल की सर्विस में मैंने इतना सफल और व्यावहारिक सहायक अभियंता नहीं देखा, जिसने नीचे से लेकर ऊपर तक विभाग के हर व्यक्ति को बांध रखा हो। सबको खुश रखता हो। उसूलों का पक्का हो और किसी का हक न मरने देता हो।" श्वसुर जी का सीना फटने को तैयार हो गया। हवा में तैरते हुए घर पहुंचे।

फिर तो फाइल के पर लग गए। अगले ही दिन अवर अभियंता ने घर जाकर 'ऐस्टीमेट' बना दिया। अनुबंध के लिए सौ रुपये का स्टाम्प बड़े बाबू ही खरीद लाए। टाइप भी उन्होंने दफ्तर के टाइपिस्ट से ही करा दिया। मात्र हस्ताक्षर की औपचारिकता निभाने के लिए श्वसुर साहब दफ्तर गए थे, जिस पर फिर से ठण्डा और गरम एक साथ पीना पड़ा था।

प्रातः टहलते हुए श्वसुर जी के अन्तरंग मित्र ने उलाहना दिया, "सब तुम्हारे दामाद का करिश्मा है। मुझे बिजली का कनेक्शन तीन जोड़ी चप्पलें घिसकर तीन महीने में मिला था। विभाग के चक्कर लगाते-लगाते जोड़ों में दर्द बैठ गया था। पर तुमने तो तीन दिन में सब काम करा लिया। अब क्या बचा है, अनुबन्ध के बाद तो दो घंटे में लाइन खिंच जाती है।"

श्वसुर साहब को मित्र का यह उलाहना भी बहुत सुखद लगा था। लेकिन न जाने क्यों लाइन दो घंटे में क्या, दो दिन में भी न खिंची। श्वसुर साहब को विद्युत विभाग के चक्कर लगाना अब मनभाने लगा था। वह तीन बार में तीन नये सफारी सूट बदलकर गए थे। इस सीजन में एक चौथा और सिलवाया था। उसकी भी ट्राई होनी थी। सो वह चौथा सूट पहनकर विभाग को स्मरण कराने

के लिए पहुंच गए। बड़े बाबू ने फिर अपनी सीट छोड़कर उन्हें बिठाया। पहले ठंडा और फिर गरम पिलाया। कुशल-क्षेम पूछा। कुछ देर मौसम पर वार्ता की, कुछ देर राजनीति पर। वापस लौटते-लौटते श्वसुर साहब को जैसे कुछ भूला-सा याद आया, "अभी लाइन नहीं खिंची है। अपने साहब को याद दिला देना।"

बड़े बाबू विनम्रता से हाथ जोड़कर झुक गए, "सर, दरअसल सही मीटर नहीं मिल रहा है। सही मीटर आते ही लाइन चालू हो जाएगी। मुश्किल से दो घंटे लगेंगे।" श्वसुर साहब निश्चिन्त होकर लौट आए।

पंडित जी ने गृह-प्रवेश का मुहूर्त दो महीने बाद निकाला था। श्वसुर साहब ने निमंत्रण-पत्र पर स्वागतोत्सुक के नीचे बड़े प्यार से दामाद जी का नाम भी छपवाया था। फिर उसके आगे बड़े गर्व से अंकित कराया था : 'सहायक अभियन्ता, राज्य विद्युत परिषद'। अपने हाथ से कार्ड बांटने दफ्तर पहुंचे। सभी को आग्रहपूर्वक निमंत्रित किया और लौटते हुए फिर बड़े बाबू को स्मरण कराया, "लाइन अभी नहीं खिंची है!"

आत्मग्लानि की यातना में डूबे भर्राए गले से उभरे स्वरों में बड़े बाबू ने आश्वासन दिया, "सर, आप चिंता न करें। विभाग पर इस समय दस एम० एम० मोटा केबिल नहीं है। केबिल आते ही लाइन खिंच जाएगी।"

कॉलोनी के कई नये मकानों में नयी लाइन खिंच गई थी। लेकिन उनके मकान के लिए पहले उपयुक्त मीटर नहीं था, अब उपयुक्त केबिल। यह होता है अपनापन। अपने ही घर में घटिया माल थोड़े ही लगा देंगे। जब होगा, ए-वन काम होगा। थोड़ी-बहुत देर-सवेर तो चलती ही रहती है।

फिर एक दिन कपड़ा खरीदते बड़े बाबू बाजार में मिल गए। उलाहने की तर्ज पर उन्हें टोक दिया था। बड़े बाबू शर्मिंदगी से लाल हो गए। एक ही सांस में कई वायदे कर डाले।

पर बिजली की लाइन फिर भी नहीं खिंची। खिसकते-खिसकते मुहूर्त का दिन भी पास आ गया। अगले ही दिन गृह-प्रवेश था। बिजली का ठेकेदार सारा काम पूरा किए बैठा था और सहायक अभियन्ता के दामाद होने के कारण आश्वस्त था। आज रात उसे फाइनल ट्रायल लेना था। उसने श्वसुर जी से पूछा, "लाइन कब खिंचेगी?"

पहली बार श्वसुर जी को भी थोड़ा-सा अटपटा लगा। बैंक में पैसा जमा कराने जा रहे थे, प्रोग्राम बदलकर विद्युत विभाग होकर जाने की ठानी। देखते ही बड़े बाबू ने कुर्सी छोड़ दी। सम्मान-सहित उन्हें बैठाया। कुछ रूखे स्वर में उन्होंने पूछा, "तुम्हारा बढ़ियावाला मीटर और केबिल कब आएगा? कल गृह-प्रवेश है। लाइन तो दो घंटे में जुड़ रही थी?"

बड़े बाबू कमान की तरह झुक गए, "वह सब तो हो जाएगा सर, पर दफ्तर का इनाम तो अभी मिला ही नहीं।" कहकर भी बड़े बाबू सीधे नहीं हुए। नजरें जमीन पर ही गड़ाए रखीं।

श्वसुर जी अवाक् रह गए, जैसे हिमालय की ऊंचाइयों से पैर फिसल गया हो। दायां-बायां झाड़कर कुछ सूझा तो बस इतना पूछ सके, "कितना इनाम होता है तुम्हारे दफ्तर का?"

"यही बस एक हजार रुपये।" बड़े बाबू तीर छोड़कर भी अभी कमान ही बने हुए थे।

श्वसुर जी ने जेब से एक हजार के नोट गिनकर बड़े बाबू को थमा दिए। बड़े बाबू ने विशेष आग्रहपूर्वक उन्हें चाय पिलाई। लाख इनकार करने पर भी इससे पहले उठने ही न दिया। उसके साहब के अनेक उसूलों में से एक यह भी था कि 'अचार' चाहे जैसा भी डाल रहे हो-'सदाचार' का या 'भ्रष्टाचार' का, जब तक उसमें शिष्टाचार की चाशनी नहीं डाली जाती, जायकेदार नहीं उठता।

पिटे-से मन और लुटे-से कदमों से श्वसुर जी बैंक चले आए। लौटकर घर पहुंचे तो बिजली की लाइन जुड़ चुकी थी। ठेकेदार बल्ब लगा-लगाकर टेस्ट कर रहा था। सचमुच लाइन खिंचने में दो घंटे भी न लगे थे।

श्वसुर जी सोफे पर पसर गए। दिल और दिमाग में जैसे हारे हुए खिलाड़ी के कमजोर विचारों का बवंडर उमड़ रहा था। एक झंझावत उठ खड़ा हुआ था जो प्रायः प्रथम अपराध-बोध की अनचाही पैदाइश होती है। यह उनकी आस्थाओं को नोच रहा था, झकझोर रहा था।

बिजली जुड़ने की खुशी से प्रफुल्लित श्रीमती जी मुस्कराती हुईं पास आ खड़ी हुई थीं, "लो जी, बिजली भी आ गयी। इत्ती-सी देर का काम था। दामाद जी को जब याद आ गया, तभी हो गया।"

"श्वसुर जी ने एक गिलास ठंडा पानी मंगाकर पिया मानो बदहजमी को गले के नीचे उतार रहे हों। उबलते हुए बबूलों पर ठंडा पानी डाल रहे हों। फिर सारे घटनाक्रम पर सप्रयास दुनियादारी की चादर डाल दी। चेहरे पर मोटी-सी मुस्कान खिला लाए। उत्साह से भरकर धर्मपत्नी से बोले, "मैं तो अपने दामाद जी को अभी तक ग्रेजुएट ही समझ रहा था, वह तो डी॰ लिट्॰ निकले।"

प्रधानमंत्री की बीवी

चौधरी रौबदार सिंह की कन्या गुणवती भी है और सुंदर भी। इससे भी बड़ी बात यह है कि उसे भी इस बात की जानकारी है कि वह रूपवती है। मोहल्ले के लड़कों और सहेलियों के तानों ने उसे इस तथ्य का पूरा-पूरा एहसास कराया हुआ है। अतः उसकी अदाओं में लोच, पहनने-ओढ़ने में शृंगार, चितवन में बांकपन, बातों में उलाहना, जरूरतों में 'हठ' और मन में महत्त्वाकांक्षा पैदा हो गयी है। चौधरी साहब हैं कि एक अच्छे और समर्थ पिता की तरह अपनी कन्या के सौंदर्य का खमियाजा उठाए चले जा रहे हैं।

रूपगर्विता कन्या बड़ी हुई तो शादी का प्रश्न खड़ा हुआ। चौधरी साहब ने चौधरन को सामने बैठाकर बेटी से पूछा, "बता, तुझे कैसा वर चाहिए?"

बेटी पहले सकुचायी, शरमायी, फिर मां के इसरार पर मुंह खोला, "पापा, हमारे देश में सबसे शक्तिशाली, सबसे सामर्थ्यवान और सबसे महत्त्वपूर्ण कौन है?"

पापा को झूठ बोलने की आदत न थी, सो तुरंत उत्तर निकला, "प्रधानमंत्री।"

"तो फिर मैं प्रधानमंत्री से ही शादी करूंगी।" बेटी ने अपना निर्णय सुना दिया।

चौधरी-चौधरन ने अवाक् हो, आश्चर्य से एक-दूसरे को देखा, बेटी की नादानी पर दोनों की सिर धुन लेने की इच्छा हुई। पर बेटी अपनी थी और बातें घर की बंद चहारदीवारी में हो रही थीं, इसलिए उन्होंने समझाया-"बेटी, प्रधानमंत्री तो अधेड़ आदमी होता है। कभी-कभी बूढ़ा भी। उसकी तो पहले से ही शादी हुई होती है। बड़े-बड़े बच्चे भी होते हैं। तू भला प्रधानमंत्री से कैसे शादी कर सकती है?"

"क्यों, क्या प्रधानमंत्री की बीवी नहीं होती?"

"होती तो है, पर पहले शादी होती है और प्रधानमंत्री बाद में बनाया जाता है।"

"तो फिर मेरी शादी ऐसे आदमी से कराइये जो बाद में प्रधानमंत्री बन जाए।" कन्या उठकर अंदर चली गई।

चौधरी साहब सोच में डूब गए। अब यह गारंटी कैसे हो कि सम्भावित दूल्हा कल प्रधानमंत्री ही बनेगा। लेकिन बेटी लाड़ली थी। लाड़-प्यार में पली थी। उस पर त्रिया-हठ। सोचा कि कोशिश तो की ही जा सकती है। फिर लड़की का भाग्य! लग गए भावी प्रधानमंत्री की खोज में।

कई युवक नेताओं के इंटरव्यू ले डाले। कहीं साधनों का जुगाड़ ठीक नजर नहीं आया तो कहीं आत्मविश्वास ही नदारद था। कहीं नेता के स्वाभाविक गुणों का अभाव खटका तो कहीं प्रधानमंत्री बनने की इच्छा ही बलवती नहीं थी। अब कन्या को गड्ढे में तो ढकेलना नहीं था, सो गहन खोज जारी रही। अन्ततः चौधरी साहब एक जगह जाकर अटक गए। उन्होंने इस सजीले युवक नेता से पूछा था, "बेटा, क्या बनना चाहते हो?"

दो टूक उत्तर मिला, "प्रधानमंत्री।"

दूसरा प्रश्न था, "अगर प्रधानमंत्री न बन सके तो?"

उत्तर में युवक नेता ने पहले आक्रोश से संभावित ससुर को घूरा था, फिर प्रयत्नपूर्वक अपने को संयत करके उत्तर दिया, "प्रश्न ही नहीं पैदा होता। मुझे प्रधानमंत्री बनना है। मैं ही इस देश का भावी प्रधानमंत्री हूं!"

चौधरी साहब ने पढ़ रखा था : 'आत्मविश्वास सफलता की कुंजी होती है।' अर्जुन के निशाने की तरह छोरे का एक ही लक्ष्य-भेद था। मुखमंडल पर तेज था। घर में साधन-सम्पन्नता। भावी ससुर प्रभावित हो गए। सौ प्रतिशत नहीं तो नब्बे प्रतिशत प्रधानमंत्री बनने की गारंटी लगती थी। अतः शेष दस प्रतिशत गारंटी को लड़की के भाग्य पर छोड़कर चौधरी साहब ने रिश्ता तय कर दिया।

शुभ नक्षत्र में चौधरी की कन्या की शादी देश के भावी प्रधानमंत्री के साथ धूमधाम से सम्पन्न हो गई।

सुहागरात को दूल्हा-दुल्हन के लिए हीरों का हार लाया। लेकिन दुल्हन को तो कुछ और चाहिए था। उसने दूल्हे को तब तक हाथ नहीं लगाने दिया जब तक उसने सौगन्ध उठाकर एक दिन दुल्हन को 'प्रधानमंत्री की बीवी' बनाने का पक्का वायदा नहीं कर लिया।

देश में चुनाव का मौसम आ गया। नेताजी भी खड़े हो गए। धर्मपत्नी ने कन्धों से कन्धा भिड़ा दिया। गली-गली, मोहल्ले-मोहल्ले और घर-घर को छान मारा। युवक कार्यकर्ता धर्मपत्नी से अधिक प्रभावित रहते थे। उसका काफिला सैकड़ों से कम नहीं चलता था। कार्यक्रमों में जीवन, ताजगी और सौन्दर्य-बोध रहता था। नेताजी ने जन-भावना की नस पकड़ ली थी। भारी बहुमत से जीते। मालाओं से लदकर घर पहुंचे तो धर्मपत्नी ने वीरोचित स्वागत किया।

रात्रि को विजेता के गले में बांहों की माला डाल दी। नेताजी ने प्रसन्न होकर कहा—"बोल, क्या मांगती है?" मानो राजा दशरथ कैकेयी से वरदान मांगने को कह रहे हों।

धर्मपत्नी ने सुहागरात वाली सौगन्ध दोहरा दी। वह अपने ध्येय से विचलित नहीं हुई थी। इधर-उधर के स्फुट आकर्षण उसे नहीं भटका सकते थे। चिड़िया की आंख में घुसा प्रधानमंत्री पद उसे तो साफ दिख रहा था। बस, पति को दिखाते रहना चाहती थी।

नेताजी अब सांसद हो गए थे। जिम्मेदारियां बढ़ गयी थीं। राजनीति को समझने-बूझने और खेलने की आवश्यकता पैदा हो गई थी। धर्मपत्नी ने भी अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। भारतीय संविधान, संसदीय कार्यप्रणाली, मानव अधिकार सहित चाणक्य नीति तक घोंट डाली। गोटियां भिड़ाने और गोटियां बैठाने की आधुनिकतम कला का स्वयं भी अध्ययन किया और पति को भी हृदयंगम कराया।

रोज रात्रि को सोने से पहले राजनीति की क्लास लगती थी। चर्चा होती। परिचर्चा होती। मूल्यांकन होता। औकात नापी जाती। कद छोटा किया जाता। बड़ा किया जाता। दांव-पेंच समझे जाते। समझाए जाते। गरज यह कि राजनीति की समझ पति-पत्नी के रोम-रोम में घुस गयी।

एक दिन नेताजी ने सभी उपेक्षित, निरीह और लावारिस सह-सासंदों को घर पर भोज के लिए आमंत्रित कर लिया। स्वादिष्ट भोजन कराया। एकता के महत्त्व का बीजारोपण किया और एक छोटा-सा गुट तैयार कर लिया।

प्रारंभ में इस छोटे-से गुट को किसी ने नहीं पूछा। किसी ने घास भी नहीं डाली। परंतु यह गुट था कि अपनी धुन में मस्त, अपनी ढपरी बजाता हुआ, रोज मिलता रहा—कभी पंचतारा होटल में, कभी रेस्तरां में तो कभी कॉफी हाउस में। हर मीटिंग में ताजी राजनीति पर बहस-मुबाहिसे होते। आपस में भावी मंत्रिमंडल के विभागों का वितरण होता। हंसी-ठट्‌ठा होता। किंतु प्रधानमंत्री पद हमेशा हमारे नेता जी के ही पास रहता। हां, इस सबके बदले में होटल, रेस्तरां और कॉफी हाउस का बिल प्राय: हमारे प्रधानमंत्री ही भरते थे। कभी-कभी गृह मंत्री या वित्त मंत्री भी दे दिया करते थे।

धीरे-धीरे इस गुट की यह एकता रंग लायी। राजनीति के गलियारों में हमेशा साथ रहने वाले इस गुट की चर्चा चल निकली। हमारे सांसद इसके निर्विवाद नेता मान लिये गए। अब उनकी बात में थोड़ा वजन आ गया। संसद के अंदर उनकी टोका-टोकी भी बढ़ गई। समाचारपत्र भी उन्हें छापने लगे। फोटो भी छपने लगे। लेकिन बीस सांसदों का एक छोटा-सा गुट उन्हें प्रधानमंत्री तो नहीं बना सकता था। वह एक कदम आगे तो बढ़े थे, पर मंजिल अभी बहुत दूर थी।

इस राजनीतिक गहमागहमी में संसदीय कार्यकाल के पांच वर्ष निकल गए। फिर से चुनाव आ गए। सांसद से फिर नेता हो गए। जिम्मेदारी बढ़ गयी। इस

बार चुनावों में पूर्व इतिहास भी था। नेतागिरी का तमगा भी। अपना निर्वाचन-क्षेत्र धर्मपत्नी के भरोसे छोड़कर नेता जी सारे भारत में उम्मीदवार खड़े करने निकल पड़े, छोटे-से गुट को अखिल भारतीय स्वरूप जो देना था। कहीं जातीय समीकरण देखा, कहीं धन के महत्त्व को स्वीकारा, कहीं लेन-देन की राजनीति को समझा। नेता जी जितना बन पड़ा, उम्मीदवार बो आए और फसल को वोटों के मानसून की दया पर छोड़ आए।

अब मानसून का तो कोई भरोसा नहीं कि कहां बरस जाए। किस पर बरस जाए। वह तो अपनी मर्जी का मालिक है। बहरहाल वह कुछ ऐसा बरसा कि नेताजी के गुट के बीस सदस्यों में से आठ धुल गए। सहज बारह ही लौटकर आ सके। नयी पौध में भी छह के ही अंकुर फूटे। बाकी सब और पार्टियां बहा कर ले गयीं। बीस सांसदों का छोटा-सा गुट घटकर अठारह सांसदों का रह गया। नेताजी के प्रधानमंत्रित्व को गहरा आघात लगा। हां, धर्मपत्नी के चुनाव-कौशल ने नेताजी की सीट सुरक्षित रखी। फिर भारी बहुमत से विजयी रहे। फिर फूलों की मालाओं से लदे। फिर बांहों के हार पड़े और कौल-करार दोहरा लिये गए।

इस करारी चुनावी हार का विश्लेषण हुआ। गुट के चार सौ उम्मीदवारों में से केवल अठारह ही निर्वाचित हो सके थे। बाकी सभी साफ हो गए थे। निष्कर्ष निकला-चुनावी मुद्दे का अभाव। लोकतंत्र में जनता को बहकाने-फुसलाने के लिए भी एक मुद्दा चाहिए। जनता सीधे-सीधे बेवकूफ नहीं बनना चाहती। एक लालीपॉप चाहिए, फिर चाहे जो करा लो। चाहे जैसे घुस लो।

गलती यह हुई थी कि चुनाव के दौरान नेताजी ने कोई चुनावी मुद्दा पेश नहीं किया था। यह नहीं कि उनके पास मुद्दा नहीं था। बहुत ठोस मुद्दा था-'सुहागरात को पत्नी से प्रधानमंत्री बनने का वायदा'। पर शायद यह असल मुद्दा पेश करने के काबिल नहीं था। कुंआरे वोटर इसके महत्त्व को नहीं समझ पाते। गरीबी की सीमारेखा से नीचेवाले वोटर इसे विलासिता मानते और स्त्री वोटर शायद ईर्ष्या से विमुख हो जाते। इसलिए नेताजी ने इसे प्रचारित एवं प्रसारित नहीं किया था और इतनी करारी हार झेल ली थी।

दूध का जला छाछ फूंक-फूंककर पीता है। इस बार नेताजी ने अगले चुनाव का इंतजार नहीं किया। पहले ही दिन से चुनावी मुद्दा पकड़ लिया-'जिसे जो चाहिए, वही मिलेगा'। हर मंच से, हर फोरम से, वे एक ही घोषणा करते-"साथियो, मेरी सरकार में आपको जो चाहोगे, वही मिलेगा।"

एक दिन एक वरिष्ठ साथी ने समझाया-"नेताजी, अगर गलती से भी कभी प्रधानमंत्री बन गए तो जनता इतना मारेगी, इतना मारेगी कि हड्डी-पसलियों का पता नहीं पाएगा। इन लंबे-चौड़े झूठे वायदों से बाज आओ!"

नेताजी आशंकित हो गए। रात्रिकालीन क्लास में पत्नी से चर्चा की। सुनकर वह भी भयभीत हुई। भावी प्रधानमंत्री की हड्डी-पसली वह भी जुड़ी रखना चाहती थी। सारी रात पत्नी को नींद न आ सकी। नेता जी का चुनावी मुद्दा अब जनता को लुभाने लगा था। जन-सभाओं में भीड़ बढ़ने लगी थी। 'गुड़ न दे, गुड़ जैसी बात तो कह दे' का सिद्धांत जादुई असर कर रहा था। ऐसे ही मौके पर उस वरिष्ठ मित्र ने यह कुमंत्रणा दे दी जो न उठाई जा रही थी और न धरी जा रही थी।

सुबह तक नेताजी को उपाय सूझ गया। आतंकवाद के इस जमाने में प्रधानमंत्री की विशिष्ट सुरक्षा पर उन्होंने संसद में एक प्रस्ताव डाल दिया।

बहस के दौरान नेताजी ने जोरदार शब्दों में प्रधानमंत्री की सुरक्षा व्यवस्था और अधिक मजबूत करने पर जोर दिया, चाहे फिर इस पर कितना भी खर्च क्यों न करना पड़े। उनके तर्कों में पैनापन था, भाषा में ओज और स्वर में कड़क थी। सत्ता-पक्ष और विपक्ष दोनों बराबर प्रभावित हुए थे। वर्तमान प्रधानमंत्री नेताजी की दलीलों से भौंचक्के थे। उन्हें क्या पता था कि किसी सांसद को उनकी सुरक्षा का इतना खयाल है। यह प्रधानमंत्री भी न समझ सके थे कि उनकी सुरक्षा व्यवस्था के माध्यम से नेता जी अपनी हड्डी-पसलियों को सुरक्षित कर रहे थे। प्रस्ताव ऐसा था कि सत्ता-पक्ष भी विरोध नहीं कर सका, अतः ध्वनिमत से पारित हुआ।

एक ही तीर से कई शिकार हो गए। नेताजी के राजनैतिक जीवन का पहला प्रस्ताव संसद से पास हो गया। सत्ता-पक्ष को नेताजी में अपना शुभचिंतक दिखने लगा। राष्ट्रीय समाचारपत्रों के मुखपृष्ठ पर नेताजी का फोटो छपा। हैडलाइंस में न्यूज छपी। प्रधानमंत्री ने व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद दिया और भविष्य के लिए नेताजी की हड्डी-पसलियों का बीमा हो गया।

चुनावी मुद्दा फिर निशंक-निर्बाध गति से चल निकला। अब तक नेताजी की राजनैतिक समझ-बूझ और ज्ञान में काफी इजाफा हो चुका था। भावी प्रधानमंत्री की छवि साफ-सुथरी और निर्मल होनी चाहिए। अतः नेताजी किसी घपले-घोटाले के पास से भी नहीं गुजरते थे। पक्षपात-रहित होना चाहिए, अतः वह झगड़े की मध्यस्थता ही नहीं करते थे। निर्विवाद होना चाहिए, इसलिए विभिन्न अवसरों पर विरोधी विचारधाराओं को स्वीकार कर लेते थे। न्यूज में रहना चाहिए, अतः संवाददाताओं की चाटुकारिता करते रहते थे। दावतें खिलाते रहते थे। सारांश यह कि अपनी पत्नी के महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहते-रहते ये पांच साल भी कट गए।

फिर चुनाव आ गया। अब नेताजी को चुनाव का अंकगणित भी समझ आने लगा था। छोटे-छोटे गुटों और पार्टियों से तालमेल बैठाए बिना बहुमत में आना

संभव नहीं था। उन्होंने सभी बिखरे दलों को एक मंच पर इकट्ठा किया। आंकड़ों की बारीकियां समझायीं। उसके विलक्षण परिणामों से अवगत कराया और एक सूत्र में पिरोने की रूपरेखा तैयार कर दी।

कुछ दल विलय चाहते थे और कुछ चुनावी तालमेल। विलय में नेताजी को अपनी धर्मपत्नी से किया वायदा विलय होता नजर आया। अतः जबरदस्त दलीलों के बीच नेताजी ने चुनावी तालमेल की बात मनवा ली।

चुनावी तालमेल के बीच चुनाव लड़ा गया। सारा पुराना चुनाव गणित गड़बड़ा गया। बड़े-बड़ों का कद छोटा हो गया। कोई भी दल या पार्टी पूर्ण बहुमत न प्राप्त कर सकी। सरकार बनाना एक समस्या हो गयी। छोटे-से-छोटे दल के भी नखरे हो गए। छोटे-से-छोटे सांसद की भी कीमत। सत्ता की उठा-पटक प्रारम्भ हो गयी। इस सारे कांड को नेताजी ने पास से देखा तो लगा कि राजनीति में तो एक-से-एक धुरन्धर भरे पड़े हैं। उनकी तो कहीं भी गिनती नहीं आती। उनका तो कहीं कोई नाम लेनेवाला भी नहीं। धर्मपत्नी की चाणक्य नीति और सारी क्लासें बौनी रह गयीं। नेताजी के छत्तीस सांसद चुनाव जीते थे। दल डबल हो गया था। फिर भी, सारे मोलभाव मंजूर थे, चाहे कोई-सा मंत्रालय ले लो, पर 'प्रधानमंत्री' के बारे में कोई सुनने को भी तैयार न था। नेताजी को लगा जैसे देश के सभी नेता अपनी पत्नियों से एक दिन प्रधानमंत्री बनने की सौगंध खाए बैठे हों। एक बार तो उनके मन में आया कि संसद के अगले सत्र में प्रस्ताव रखेंगे कि संविधान में संशोधन करके प्रधानमंत्री पद की संख्या एक से बढ़ाकर कम-से-कम एक दर्जन कर दी जाए। कम-से-कम देश के बारह पति तो अपनी पत्नियों के सामने शर्मिंदा न हों। लेकिन इस नेक काम के लिए भी तो सत्ता में आना जरूरी था—वह भी दो-तिहाई बहुमत से।

हां, इस उठा-पटक में हमारे नेताजी के हाथ भी एक छोटा-सा मंत्रालय लग गया। आशा के विपरीत न धर्मपत्नी ने वीरोचित स्वागत किया और न गले में बांहों के हार डाले। उलटा मुंह फुला लिया। नाइट क्लास भी दो दिन तक स्थगित रही। नेताजी ने मनुहार की, "भाग्यवान, यह मंत्रालय तो मैंने पूर्वाभ्यास के लिए स्वीकारा है। यह मेरी मंजिल नहीं है, रास्ता है। साध्य नहीं है, साधन है। एक अनुभव है। एक पड़ाव है। तुझे प्रधानमंत्री की बीवी बनाने से पहले मैं हरगिज नहीं मरूंगा, चाहे ऊपरवाले के विरुद्ध स्थगन आदेश ही क्यों न लाने पड़ें। आखिर प्रधानमंत्री को मंत्रालय के कार्यकलापों का पूर्व अनुभव भी तो होना चाहिए।"

आखिरी बात ज्ञानवान धर्मपत्नी की समझ में आ गयी। सारे मंत्रालय को विकास कार्यों से हटाकर जन-मनुहार में झोंक दिया गया। काम होने वाला हो या न हो। हो सकता हो या न हो सकता हो। अब कोई खाली हाथ नहीं

जाएगा। कम-से-कम सिफारिशी पत्र हर व्यक्ति को मिलेगा। मंत्रालय में 'ना' शब्द को निषेध कर दिया गया। हर बात का उत्तर 'हां' में होने लगा। जल्द ही नेताजी की गिनती सफलतम मंत्रियों में होने लगी।

नेताजी को मंत्री बने छह महीने भी न गुजरे थे कि सरकार गिर गयी। कई गुटों की जोड़-तोड़कर बनी सरकार का इतना चल जाना भी एक उपलब्धि ही थी। पर्यवेक्षक तो तीन ही महीने का कार्यकाल बता रहे थे। धमकियां तो पहले ही महीने से मिलने लगी थीं। कभी एक गुट नाराज हो जाता तो कभी दूसरा। इसको मनाओ तो वह असन्तुष्ट। उसको मनाओ तो यह असन्तुष्ट। प्रधानमंत्री न हुए, अठारह बीवियों के शौहर हो गए। जिसे देखा कोपभवन में पड़ा रहता था। अंततः एक गुट निकल ही भागा और सरकार गिर गयी।

यहां भी नेताजी ने कुछ कमा ही लिया। छह महीने के कार्यकाल में उन्होंने प्रधानमंत्री को बिलकुल परेशान नहीं किया। न नाराज हुए, न धमकी दी, न असंतुष्ट हुए और न कोई मांग रखी। बराबर प्रधानमंत्री के बाएं हाथ बने रहे। सत्ता के गलियारों में नेताजी की धाक जम गयी। भरोसे के राजनीतिज्ञ कहलाए जाने लगे।

फिर जोड़-तोड़ शुरू हो गई। नयी सरकार का गठन जो करना था। जनादेश पांच साल में एक ही बार बहुत होता है। बार-बार जनता के सामने जाना और आदेश प्राप्त करना—कोई तुक है भला! कितनी हेठी होती है। आत्मसम्मान को कितना आघात लगता है। पांच साल तक जिनको आदेश देते रहो, उन्हीं से जाकर आदेश लो, "कहो भई, हमारा आदेश देना तुम्हें पसंद आया? हम फिर से तुम्हें आदेश दे सकते हैं? प्रजातंत्र में कहीं कोई गलती जरूर है जो हिंदी फिल्मों की तरह थोड़े-थोड़े समय बाद नौटंकी करती है। मजमा लगवाती है। रोल बदलवाती है। सांसद अभी दिल्ली में आकर जमे ही थे, जनता से पांच साल के लिए विदा लेकर आए थे। इससे पहले वापस कैसे चले जाते? फिर जनता के मूड का कुछ ठिकाना है, कब उलट जाए। कब पहचानने से इनकार कर दे। सो वे एकमत हो दिल्ली में ही टिके रहे। सरकार गिर गयी थी, पर वे खड़े रहे।

गिरतों को उठाना सांसदों का परम कर्तव्य है। अतः सभी जी-जान से सरकार उठाने में लग गए। नये समीकरण बिठाए जाने लगे। टोह ली जाने लगी। खरीद-फरोख्त चालू हो गयी। नयी-नयी दुकानें खुल गयीं। कुछ पहचान बनाने के लिए सिद्धान्तों पर लटक गए और अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ ने नीतियों का पट्टा लगाकर अपनी एकता और शक्ति का प्रदर्शन किया और औकात नपवाई। कुछ ने क्षेत्रीय एकता दर्शायी तो कुछ ने लिंग-भेद की दुहाई दी। सभी बिकाऊ थे, पर खुले में कोई नहीं बिकना चाहता था। जनता के हित
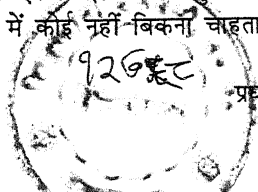
में ही जनता से पर्दा रखे थे कि कहीं बुरा असर न पड़ जाए। सत्ता के बैडरूम में भला बच्चों जैसी भोली-भाली जनता का क्या काम!

नेताजी की धर्मपत्नी ने उकसाया, "लक्ष्य-भेद का यही सही मौका है। अब की मत चूको चौहान।" और साथ में चाणक्य नीति समझायी, "गैरों को अपना बनाने के लिए कुछ त्याग करना होता है। और कुछ न हो तो मंत्री पद ही बांट आओ।"

नेताजी सारा मंत्रिमंडल बांट आए। काम नहीं चला तो मंत्रिमंडल का विस्तार कर दिया और वह भी बांट आए। फिर भी काम नहीं चला तो एक-एक पद को दो-दो जगह सौंप आए और गोपनीयता बढ़ा दी। लेकिन वाह री राजनीति! पता चला, उनके एक प्रतिद्वंद्वी ने अपना मंत्रिमंडल तीन-तीन बार बांटा हुआ था। फिर नेताजी की दाल भला कैसे गलती! हताश, बिस्तर में आ लेटे। सोचने लगे, पत्नी को वचन न दिया होता तो लॉटरी की एक दुकान खोलते और नाम रखते–'सपनों की दुकान'। शर्तिया चलती।

धर्मपत्नी सिरहाने आ बैठी। उन्हें भी लग रहा था कि आधुनिक राजनीति में चाणक्य भी फेल है। कोई धर्मधोरा ही नहीं रहा है। मंत्री पद भी प्रलोभनहीन हो गए हैं। उसने झुंझलाकर पूछा, "आखिर क्या चाहते हैं तुम्हारे साथी?" "सभी प्रधानमंत्री बनना चाहते हैं। कैसे बनाऊं सबको प्रधानमंत्री?" नेताजी क्रोधित हो उठे।

"बना सको तो बना दो। सभी अपने-अपने मन की निकालें। हमारे बाप का क्या जाता है।" धर्मपत्नी भी आगबबूला थी।

नेताजी ने मन-ही-मन अपने भावी प्रस्ताव में संशोधन किया–एक दर्जन प्रधानमंत्रियों से भी काम नहीं चलेगा। 540 सीटों की लोकसभा में कम-से-कम 540 ही प्रधानमंत्री होने चाहिए। और तभी उन्हें अचूक उपाय सूझ गया। कूद-कर बिस्तर से खड़े हो गए। उत्साहित होकर पत्नी के कंधे झकझोर दिए और बोले, "अब मैं जा रहा हूं। आज सभी को प्रधानमंत्री बनाकर ही लौटूंगा।"

सूझ सचमुच मौलिक थी, योजना अचूक थी–'जो चाहोगे वही मिलेगा' की तर्ज पर। नेताजी ने एक-एक करके चारों प्रमुख प्रतिद्वंद्वियों से गुप्त संपर्क साधा। सौदा हुआ। तालमेल हुआ। सूझबूझ पैदा की गई। लिखत-पढ़त भी हुई और घोर अविश्वास में विश्वास के साधन खोज लिये गए। जिम्मेदारियां ली-दी गयीं। गारंटी और गारंटर पैदा किए गए। ठोस मापदण्ड अपनाए गए। शक और शुबहा की कोई गुंजाइश ही न छोड़ी गयी और प्रधानमंत्री का शेष कार्यकाल आपस में हिल-मिलकर बांट लिया गया।

इस घोर परिश्रम का वांछित परिणाम निकला। अथक प्रयत्न रंग लाए। नेताजी के हाथ पहले छह महीने का कार्यकाल लग गया। क्योंकि उनकी पहले

प्रधानमंत्री बनने की जिद थी इसलिए कार्यकाल छोटा ही मिला था। मात्र छह महीने के लिए प्रधानमंत्रित्व, फिर सत्ता-परिवर्तन होना था। फिर दूसरा प्रधानमंत्री निर्धारित समय के लिए। पांचों इसी क्रम में बंध गए। पांचों के सपने साकार हो उठे। असंभव संभव लगने लगा। झाड़ी की दो चिड़ियों से मुट्ठी की एक भली। कम-से-कम प्रधानमंत्री तो बनेंगे। प्रधानमंत्री तो कहलाएंगे। कार्यकाल किसने देखा है। दिन किसने गिने हैं। पांच साल का ठेका है क्या? अरे, सत्ता-परिवर्तन के बाद भी भूतपूर्व प्रधानमंत्री तो बने ही रहेंगे। प्रधानमंत्री में कोई विशेषण जुड़ेगा ही न, कुछ घटेगा तो नहीं। सो सभी राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी संतुष्ट हो गए।

लेकिन शपथ ग्रहण समारोह होते-होते गोपनीयता 'लीक' हो गई। ये पत्रकार बंधु भी बड़े अंतरघाती होते हैं—कोई काम सीधे-सीधे हो न जाए। अल्पमत की सरकार और सीधे-सीधे ढंग से निर्विरोध नेता का चुनाव। पत्रकार बंधुओं के नथुने फूल गए थे। घर-घर सूंघा गया, नेता-नेता सूंघा गया और गोपनीयता लीक कर दी गयी। पूरी नहीं तो कुछ अंशों में।

परिणाम गंभीर हुए। विरोधी तो अटल रहे पर अपने पलट गए। अड़तीस सांसदों की पार्टी मुट्ठी के रेत की तरह फिसलकर बिखर गयी। एक ही उलाहना था—"ये पराए क्या अपनों से भी ज्यादा हो गए।"

नेताजी चिंतातुर हो चले। मुंह आया ग्रास निकले जा रहा था। उन्होंने फिर ट्राई मारी। वही धोबी-पछाड़ दांव—"तुम भी लो।" इस बार की सौदेबाजी में उनके छह महीने का प्रधानमंत्रित्व घटकर छह दिन का रह गया। लीकेज के बहाव को रोकने में प्रधानमंत्रित्व काल के पूरे पांच माह और तीन सप्ताह टेप बनकर चिपक गए। तो क्या हुआ? देश के प्रधानमंत्री की शपथ तो उठाएंगे। धर्मपत्नी को किया हुआ वायदा तो निभाएंगे। भूतपूर्व प्रधानमंत्री तो कहलाएंगे।

सादे किंतु भव्य समारोह में नेताजी ने देश के प्रधानमंत्री पद की शपथ ग्रहण की।

संबंधियों और बधाइयों का तांता लग गया। धर्मपत्नी का रोम-रोम प्रफुल्लित था। वह शरमाती-सी, लजाती-सी दूर-दूर डोल रही थी, जैसे आज ही नयी-नवेली ब्याहकर आयी हो।

रात्रि को धर्मपत्नी ने विजयी प्रधानमंत्री के गले में बांहों की माला डाल दी। प्रधानमंत्री ने भी सुबह तक माला नहीं उतारी।

अब मैं भी कायल हो गया हूं कि हर महान पुरुष के पीछे एक स्त्री होती है।

समाचारपत्र बड़े नीरस लगे। बेजान। उन्हें लगा कि स्वर्गवासियों के साथ सुनियोजित षड्यंत्र हो रहा है। उन्हें मीठे में इस कदर डुबो दिया गया है कि वे खट्टे का स्वाद ही न चख सकें। लेकिन क्या उनके रहते यह षड्यंत्र सफल होना चाहिए। उनकी पृथ्वी–प्रसिद्ध खोजी-पत्रकारिता आखिर किस दिन काम आएगी। उन्होंने इस गोलमोल का पर्दाफाश करने की ठान ली।

'स्वर्ग-दैनिक' की रमणीयता और साज-सज्जा ने उन्हें खासा प्रभावित किया था। इसका छायांकन, मुद्रण और गेटअप उच्च कोटि का था। इसलिए वह सर्वप्रथम 'स्वर्ग-दैनिक' के सम्पादकीय कार्यालय में ही पहुंचे। प्रधान संपादक के सामने बैठकर सीधा प्रश्न दागा, "आपका सरकुलेशन कितना है?"

प्रधान संपादक प्रकांड विद्वान थे। हर भाषा के ज्ञाता। बोले, "छत्तीस सहस्र अरब।"

"आप इसे डबल करना चाहेंगे?" पत्रकार आत्मा ने जैसे चामत्कारिक प्रस्ताव रखा।

प्रधान संपादक ने चश्मे के पीछे से उन्हें ऊपर से नीचे तक निहारा। फिर बड़े सामान्य भाव से संतोषपूर्ण उत्तर दिया, "क्या लाभ होगा? स्वर्ग के लिए यह सरकुलेशन पर्याप्त है।"

पत्रकार बंधु को लगा जैसे किसी ने उनके नीचे से कुर्सी खींच ली हो। स्वर्गवासियों का यह परम संतोषी चरित्र उन्हें बिलकुल नहीं भाया था। उन्हें लगता था कि जैसे स्वर्ग-निवासियों की धमनियों में खून की जगह सफेद पानी भरा हो जो सोमरस के दर्जनों जामों से भी उबाल नहीं खाता हो लेकिन उनके पृथ्वीलोक के संघर्षशील चरित्र में कोई कमी नहीं थी। कुर्सी से लुढ़ककर भी उसी पर जमे रहे, "लाभ क्यों नहीं है? शुल्क ज्यादा मिलेगा। मुद्रण-व्यय वही रहेगा, अधिक मुनाफा होगा!"

प्रधान संपादक जी ने संतोष की एक गहरी सांस खींची, "यहां समाचारपत्र निशुल्क वितरित किए जाते हैं। यहां लाभ-अर्जन का तो प्रश्न ही नहीं होता।"

पत्रकार बंधु पर संपादक जी के संतोष का रहस्य खुल गया था। मुफ्तखोरी के काम में भला कौन सिर खपाएगा!

लेकिन फिर भी वह इतनी आसानी से भला कहां हार माननेवाले थे! बोले, "लेकिन सरकुलेशन बढ़ेगा तो पत्र को प्रथम स्थान प्राप्त होगा। नाम होगा, प्रसिद्धि होगी। नये मानदण्ड स्थापित होंगे। पुराने रिकार्ड टूटेंगे।"

"हमारा सरकुलेशन आज भी प्रथम स्थान पर है। फिर भी आप अपनी योजना बताएं, आप हमसे क्या चाहते हैं?" संपादक जी को इस मृतात्मा के मानदंड स्थापित करने वाली बात ने कहीं छू लिया था, सो वह परोक्ष में इस नवांगतुक की योजना समझने और आंकने के इच्छुक हो गए थे।

खट्टा पत्रकार

एक नामी-गिरामी पत्रकार परलोकवासी हो गए। भूलोक पर जब तक उनकी आत्मा की शान्ति के लिए शान्ति-यज्ञ सम्पन्न हुआ और असंख्य श्रद्धांजलियां दी गयीं, तब तक यमलोक में उनका लेखा-जोखा जांचकर यमराज ने निर्णय सुना दिया, "एक माह स्वर्गवासी, फिर नरकवासी भव।" आधार था कि पत्रकार महोदय ने प्रारम्भिक दिनों में सच्ची साधना की थी, सत्य पर अडिग रहे थे, सेवाभाव रखा था और फिर कुछ नाम कमा लेने पर अपनी स्थिति संभाले रखने के लिए जोड़-तोड़, उठा-पटक, बहलाने-फुसलाने, गिराने-उठाने, के दांव-पेंचों में उलझ गए थे। अब यमराज जी से तो कुछ छिपा नहीं था। वहां तो दूध का दूध और पानी का पानी होना ही था, सो उनके लिए पहले स्वर्ग और फिर नरक की व्यवस्था हो गयी।

पत्रकार बन्धु कुछ दिवस तो स्वर्ग के वैभव में खोये रहे। एक-एक करके सभी नृत्यागारों और सोमरस-गृहों में चक्कर लगा आए। शुल्क का वहां कोई प्रावधान न था और स्वर्गवासियों के लिए कोई रोक-टोक न थी–स्वच्छन्द घूमें। गहरी छानी। फिर स्वभावानुसार मन लगाने के लिए किसी साथी पत्रकार की खोज की। ज्ञात हुआ कि सभी पत्रकार कुछ समय स्वर्ग में बिताकर नरकवासी हो चुके थे। साथ के लिए तब तक इंतजार करना होगा जब तक मृत्युलोक से किसी पत्रकार की कोई नयी आमद नहीं होती। मन में सोचा कि पृथ्वीलोक से उनके प्रिय मित्र दूबे जी ही आ जाते तो मजा आ जाता। पर सोच भर से तो कुछ नहीं होता। दूबे जी तो अपने समय पर ही आने थे।

जब स्वर्ग के वैभव-विलास से मन नहीं भरमा तो स्वर्ग की समाचार-व्यवस्था का जायजा लेने निकल पड़े। वहां कुल जमा चार दैनिक समाचार-पत्र निकलते थे। चारों रंगमंच, आमोद-प्रमोद, रास-रंग, नृत्यागारों और सोमरसगृहों के समाचारों और विज्ञापनों से अटे पड़े थे। न कहीं बलात्कार का समाचार था, न डाके का। न कहीं चोरी हुई थी, न कहीं झगड़ा। खून का तो केवल रंग प्रयोग किया गया था, नृत्यागारों के विज्ञापनों के प्रकोष्ठों को रेखांकित करने के लिए। कोई राजनैतिक समाचार भी ढूंढे से नहीं मिला। पत्रकार महोदय को सभी

समाचारपत्र बड़े नीरस लगे। बेजान। उन्हें लगा कि स्वर्गवासियों के साथ सुनियोजित षड्यंत्र हो रहा है। उन्हें मीठे में इस कदर डुबो दिया गया है कि वे खट्टे का स्वाद ही न चख सकें। लेकिन क्या उनके रहते यह षड्यंत्र सफल होना चाहिए। उनकी पृथ्वी-प्रसिद्ध खोजी-पत्रकारिता आखिर किस दिन काम आएगी। उन्होंने इस गोलमोल का पर्दाफाश करने की ठान ली।

'स्वर्ग-दैनिक' की रमणीयता और साज-सज्जा ने उन्हें खासा प्रभावित किया था। इसका छायांकन, मुद्रण और गेटअप उच्च कोटि का था। इसलिए वह सर्वप्रथम 'स्वर्ग-दैनिक' के सम्पादकीय कार्यालय में ही पहुंचे। प्रधान संपादक के सामने बैठकर सीधा प्रश्न दागा, "आपका सरकुलेशन कितना है?"

प्रधान संपादक प्रकांड विद्वान थे। हर भाषा के ज्ञाता। बोले, "छत्तीस सहस्र अरब।"

"आप इसे डबल करना चाहेंगे?" पत्रकार आत्मा ने जैसे चामत्कारिक प्रस्ताव रखा।

प्रधान संपादक ने चश्मे के पीछे से उन्हें ऊपर से नीचे तक निहारा। फिर बड़े सामान्य भाव से संतोषपूर्ण उत्तर दिया, "क्या लाभ होगा? स्वर्ग के लिए यह सरकुलेशन पर्याप्त है।"

पत्रकार बंधु को लगा जैसे किसी ने उनके नीचे से कुर्सी खींच ली हो। स्वर्गवासियों का यह परम संतोषी चरित्र उन्हें बिलकुल नहीं भाया था। उन्हें लगता था कि जैसे स्वर्ग-निवासियों की धमनियों में खून की जगह सफेद पानी भरा हो जो सोमरस के दर्जनों जामों से भी उबाल नहीं खाता हो लेकिन उनके पृथ्वीलोक के संघर्षशील चरित्र में कोई कमी नहीं थी। कुर्सी से लुढ़ककर भी उसी पर जमे रहे, "लाभ क्यों नहीं है? शुल्क ज्यादा मिलेगा। मुद्रण-व्यय वही रहेगा, अधिक मुनाफा होगा!"

प्रधान संपादक जी ने संतोष की एक गहरी सांस खींची, "यहां समाचारपत्र निशुल्क वितरित किए जाते हैं। यहां लाभ-अर्जन का तो प्रश्न ही नहीं होता।"

पत्रकार बंधु पर संपादक जी के संतोष का रहस्य खुल गया था। मुफ्तखोरी के काम में भला कौन सिर खपाएगा!

लेकिन फिर भी वह इतनी आसानी से भला कहां हार माननेवाले थे! बोले, "लेकिन सरकुलेशन बढ़ेगा तो पत्र को प्रथम स्थान प्राप्त होगा। नाम होगा, प्रसिद्धि होगी। नये मानदण्ड स्थापित होंगे। पुराने रिकार्ड टूटेंगे।"

"हमारा सरकुलेशन आज भी प्रथम स्थान पर है। फिर भी आप अपनी योजना बताएं, आप हमसे क्या चाहते हैं?" संपादक जी को इस मृतात्मा के मानदंड स्थापित करने वाली बात ने कहीं छू लिया था, सो वह परोक्ष में इस नवांगतुक की योजना समझने और आंकने के इच्छुक हो गए थे।

"देखिए, मैं लगभग पिछले दो सप्ताह से आपका पत्र देख रहा हूं लेकिन एक भी चटपटा मसालेदार समाचार मेरी निगाहों से नहीं गुजरा। अगर आप मेरे कहने से मीठे के साथ-साथ खट्टे समाचार भी छापने लगें तो आपका पत्र ऊंची छलांगें भरने लगेगा। नये-नये आयाम स्थापित कर दिखाएगा।" ब्रह्मास्त्र छोड़कर पत्रकार बंधु ने प्रतिक्रिया जानने के लिए संपादक की आंखों में झांका।

लेकिन संपादक जी उसी प्रकार सहज रहे। अप्रभावित। सरलता से पूछा, "खट्टे समाचारों से आपका क्या अभिप्राय है?"

पत्रकार महोदय को 'स्वर्ग दैनिक' के प्रधान संपादक की बुद्धि पर तरस आया जो खट्टे जायकेदार समाचारों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। बोले, "वही झगड़ा-फसाद, मारपीट, लूट-खसोट, चोरी-डकैती, खून-खच्चर। लगता है आपका क्राइम रिपोर्टर सक्रिय नहीं है।"

संपादक जी तनिक मुसकराए। मुसकराहट में विद्रूप भरा था। "आप अभी भूलोक को नहीं भुला पाए हैं शायद। यह स्वर्गलोक है। यहां यह सब नहीं होता तो फिर इस प्रकार के समाचार कैसे हो सकते हैं?"

पत्रकार बंधु को यह दावा खोखला लगा। इतना बड़ा स्वर्गलोक, उसकी इतनी विराट जनसंख्या और उसमें ये स्वाभाविक जीवन्त क्रियाएं और प्रति-क्रियाएं न हों। पृथ्वीलोक पर भी बड़े-बड़े अधिकारी और नेतागण उनके सामने ऐसे ही खोखले दावे करते रहे थे और उन्होंने सबकी ढोल की पोल खोलकर उन्हें धूल चटा दी थी। एक सांप्रदायिक दंगे में तो जिलाधिकारी अंत तक यह कहता रहा था कि एक भी मौत नहीं हुई और उन्होंने एक ही इलाके से पूरी चार लाशें निकाल दी थीं। उन्हें इस प्रकार के खोखले दावों का पूर्वानुभव था सो अकड़ गए। मेज पर मुक्का मारकर बोले, "आप यह कैसे कह सकते हैं कि यहां यह सब नहीं होता। ठीक है कि आप तक ऐसे समाचार नहीं आते इसलिए आप उन्हें नहीं छाप पाते। यह सब आपके संवाददाताओं की खामियां हैं लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि यहां पर अपराध होता ही नहीं है।"

पत्रकार उत्तेजित हो उठे थे लेकिन संपादक जी अभी भी सौम्य बने थे। उसी प्रकार मुसकराते हुए बोले, "मैं सहस्र कोटि वर्षों से यहां कार्यरत हूं। आपके मानक की एक भी खट्टी घटना मेरी दृष्टि में नहीं आयी। फिर समाचार कैसे बनता? वास्तविकता यह है कि स्वर्गलोक पर जीवात्माएं संतुष्ट हैं, इसलिए ऐसे आपराधिक दुष्कर्मों में नहीं उलझतीं, जिससे खट्टा समाचार बने।"

मृत्युलोक के पत्रकार कुछ ढीले पड़े। संदेह जनमा कि वह गलत भी हो सकते हैं। शायद भूलोकवासियों का यहां आकर पूर्णतया हृदय-परिवर्तन हो जाता हो। अतः संभालकर दांव फेंका, "इसका अर्थ है कि आपके यहां क्राइम रिपोर्टर ही नहीं होगा। खोजी पत्रकारिता का नितांत अभाव है।"

"प्रश्न ही पैदा नहीं होता।"

"फिर आप तक भला खट्टे समाचार कैसे पहुंचेंगे? अपनी छीछालेदर छपवाने कोई स्वयं चलकर तो आपके पास आएगा नहीं। यह तो खोजी पत्रकार का काम है कि सात पर्दों के पीछे से चटखारेदार समाचार निकाल लाए। जब क्राइम रिपोर्टर ही नहीं तो क्राइम न्यूज कहां से आएगी? आप यह काम मुझे सौंपिए और फिर देखिए अगर एक हफ्ते में कोई चटपटा मसालेदार समाचार न लाकर दिया तो कहना।"

संपादक जी कुछ क्षण इस अजूबे को निहारते रहे जिस पर से मृत्युलोक की सांसारिकता का रंग अभी भी नहीं धुला था। फिर बड़ी सहजता से चुनौती स्वीकार कर ली, "ठीक है, आपको एक सप्ताह नहीं, दो सप्ताह का समय दिया जाता है। इस बीच आप कोई सच्चा, खट्टा समाचार ला सके तो मैं उसे जरूर छापूंगा लेकिन यदि आप दो सप्ताह में भी असफल रहे तो फिर इस विषय पर सोचना छोड़ देंगे और मेरा समय नष्ट नहीं करेंगे।"

खोजी पत्रकार मन-ही-मन संपादक की अडिग आस्था से हिल गए। यह स्वर्गलोक है। कहीं सचमुच ही फेल न हो जाएं। इसलिए उन्होंने एक नया तीर अपने तरकश से निकाला, "और आप नमकीन क्यों नहीं छापते? क्या आपके यहां राजनैतिक समाचार भी नहीं होता?"

"क्या मतलब?" संपादक जी एक बार फिर भौंचक्के हो गए।

"भई, नमकीन समाचार अर्थात् सत्ता की उठा-पटक, नेताओं की रस्साकशी, खींचातानी, राजकर्मचारियों के गोलमोल, अधिकारियों के घोटाले, पार्टियों की नोक-झोंक, दल-बदल, सरकारों का गिरना-उठना, सत्ता-परिवर्तन। भूलोक में तो ऐसे नमकीन समाचारों से पत्र-पत्रिकाएं अंटी पड़ी रहती थीं और भूवासी रोज सुबह ही सुबह उन्हें चाटते थे। मैं देख रहा हूं कि आपके पत्र में इन नमकीन समाचारों का भी नितांत अभाव है।" इस बार खोजी पत्रकार ने अधिक विनम्रता और आदर से अपनी बात पेश की थी। शायद वह संपादक जी के सौम्य स्वभाव से प्रभावित हुए थे या फिर शायद वह इस बात से प्रभावित थे कि संपादक जी कम-से-कम दो सप्ताह का कार्यभार उन्हें सौंप चुके थे।

"देखिए, हमारे यहां लोकतंत्र नहीं, राजसत्ता है। देवराज इंद्र हमारे लोकपालक हैं। हम स्वर्गवासी उनके राजकाज में बिलकुल दखल नहीं देते। सभी संतुष्ट हैं, आनन्दमय हैं। फिर राजसत्ता से भला क्यों उलझें?"

"यह खूब रही! अगर सब आनंदमय हैं तो इसका अर्थ है कि हम यह भी न जानें कि राजसत्ता क्या कर रही है। यह भी तो संभव है कि यदि राजसत्ता को और अधिक सुचारू रूप से चलाया जाए तो स्वर्गवासियों का आनंद बढ़ जाए। राजसत्ता को निरंतर सचेत रहना चाहिए और उसको सचेत रखना जनता

और समाचारपत्रों का दायित्व है। लगता है यहां स्वर्ग में सभी इतने आनंदमय हो गए हैं कि साधारण स्वाभाविक दायित्व बोध को भी भुला बैठे हैं।"

"यदि आप कोई स्वर्गोपयोगी नमकीन समाचार भी लाते हैं तो मैं उसका भी स्वागत करूंगा।" संपादक जी संभवतया इस बार प्रभावित हुए थे। खोजी पत्रकार ने अपने कौशल से एक विकल्प निकाल लिया था। स्वर्ग पर यदि सचमुच कुछ खट्टा हाथ नहीं लगा तो नमकीन तो वह निकाल ही लाएंगे, इसका उन्हें पूरा भरोसा था।

चुनौती उठाकर पत्रकार खोजी मटरगश्ती को निकल पड़े। स्वर्ग में भवनों पर ताले तो नहीं ही थे, उनके द्वार भी खुले पड़े थे। लापरवाही की यह सीमा थी कि मूल्यवान आभूषण कक्षों में बिखरे पड़े थे और उनको कोई संभालकर रखनेवाला तक न था। ऐसी असावधान पृष्ठभूमि पर चोरी-डकैती, लूटमार की संभावनाओं का सोच ही बेमानी था। किसी भी चोरी के लिए ताला या कम-से-कम कुंडा तो होना जरूरी था। झगड़े-फसाद की गुंजाइश भी नजर नहीं आ रही थी क्योंकि लोगों की जिह्वा पर मिसरी घुली थी। लड़ना, डांटना, फटकारना तो दूर, लोगबाग ऊंचे स्वर में बातें करना भी नहीं जानते थे। शालीनता इस हद तक गुजर गयी थी कि औपचारिकता को छूने लगी थी। जनजीवन लगता था मानो सभ्यता का नाटक खेल रहा हो। ऐसी नीरस-निर्जीव समरसता में खटाई क्या खाक मिलेगी! खोजी पत्रकार झल्ला उठे।

पर वह भी पृथ्वीवासी रहे थे। वह भी पत्रकार! आसानी से कहां हार मानने वाले थे! इस स्वर्ग-तल पर द्रव्य का महत्त्व न भी हो पर भावना का तो होगा। राग-द्वेष, अपना-पराया, तेरा-मेरा, मान-अपमान कुछ तो होगा जो अपराध या हिंसा को जन्म दे सके। खट्टा समाचार पैदा कर सके। उन्हें अंगारा भर चाहिए था। हवा देकर आग निकालने में तो पूर्वाभ्यस्त थे। स्वर्ग के बाजारों में उन्हें एक कमी और खली। चाकू-छुरे, तलवार, खुरपी, पिस्तौल, बंदूक–कोई भी अस्त्र-शस्त्र उपलब्ध नहीं था। बच्चों के खेलने तक के लिए पिस्तौल या बन्दूक न थी। हिंसा क्या खाक जन्मेगी, जब उसका साज-सामान ही न होगा! खून-खच्चर किस से होंगे? खोजी पत्रकार ने सोचा–अगर मौका मिला तो पृथ्वीलोक से पिस्तौल और बंदूक के खिलौने स्वर्ग में आयात करेंगे। यहां जमकर बिकेंगे।

टोह में बैठे पत्रकार ने देखा कि नृत्यागार में नयी-नवेली अप्सरा के साथ नृत्य करते युवक का कंधा स्पर्श कर एक भद्र पुरुष ने अप्सरा के साथ नृत्य करने का प्रस्ताव किया। युवक ने सहर्ष आज्ञा दे दी और हटकर स्वयं पत्रकार के पास आ विराजे। भद्र पुरुष नृत्य करने लगे। युवक हट्टा-कट्टा था। बलिष्ठ था। आराम से भद्र पुरुष को ठोक सकता था। पर दुम दबाकर आ बैठा। पत्रकार

को बुरा लगा। उन्होंने युवक को हवा दी, "यह महाशय तो कबाब में हड्डी बन गए।"

"नहीं, मैं ही नृत्य करते-करते थक गया था।" युवक का उत्तर था।

"फिर भी आपके नृत्य के बीच उन्हें इस तरह नहीं अटकना चाहिए था। मुझे तो बहुत बुरा लगा।" पत्रकार ने अपनी कोशिश जारी रखी।

"छोड़िए भी। बताइए, क्या पिएंगे? आपके लिए क्या मंगाऊं?" युवक फिर भी शांत था।

पत्रकार के मन में आया कि कहे—जहर मंगा दो। किस कदर ठंडा दिमाग है स्वर्गवासियों का! जैसे शरीर में ठंडा पानी तैरता हो। पानी भी ऐसा जिसने कभी उबाल न खाने की कसम खा रखी हो। निराश और निरुत्साह पत्रकार अपने कक्ष में वापस लौट आए। स्वर्गवासी उनकी उम्मीदों पर खरे नहीं उतर रहे थे।

घूमते-फिरते दो हफ्ते के तेरह दिन निकल गए लेकिन एक भी खट्टा समाचार हाथ न लगा। पत्रकार महोदय सोचने लगे कि इस निश्चिंत स्वर्ग पर केवल वही एक चिंतातुर आत्मा विराजमान है। तो क्या हुआ, जिसे कुछ खोजना होगा, कुछ पाना होगा, वही तो चिंता करेगा। निश्चिंत होकर वह भी स्वर्ग की भीड़ में खो गया तो संपादक जी के सामने हेठी न होगी। उनकी विद्रूप-भरी हंसी अभी तक उसके हृदय को साल रही थी। नहीं, वह हार नहीं मानेगा। वह संघर्षशील मानव रह चुका है। किसी कीमत पर घुटने नहीं टेकेगा।

सरेशाम वह निढाल होकर अपने कक्ष में आकर पड़ गए। थकान से चूर शरीर को निद्रा ने आ घेरा।

रात्रि के दूसरे पहर आंखें खुलीं तो पत्रकार महोदय ने कक्ष की खिड़की से देखा कि सामनेवाले कक्ष में युवा नव-दम्पति प्रेमालाप में निमग्न थे। कामातिरेक में न केवल एक-दूसरे से गुंथे हुए थे वरन एक-दूसरे को झकझोर भी रहे थे। आलिंगनबद्ध पत्नी के होंठों पर कामातुर पति ने दांत गड़ा दिए। दांत का निशान पत्नी के होंठों पर उभर आया था। वह सिसकियां लेती हुई पति से लिपट गई और उसके कंधों पर नाखून गढ़ा दिए। नखक्षत भी कंधों पर अपनी छाप छोड़ गए।

"हिंसा! प्यार में हिंसा!" खोजी पत्रकार के उर्वर मस्तिष्क में खट्टी खबर कौंध गयी। कौन कहता है कि स्वर्ग पर हिंसा नहीं होती। वह उठे। सामनेवाले कक्ष का नंबर और पता नोट किया और एक गरमागरम मसालेदार चटपटी खबर खींच दी। अब वह कल संपादक जी से आंख मिलाकर बात कर पाएंगे।

समाचार पढ़कर संपादक जी भी चौंके। 'स्वर्ग पर हिंसा' के शीर्षक से पत्रकार ने लिखा था कि "उक्त कक्ष में युवा पति ने अपनी नवविवाहिता धर्म-

पत्नी को काट खाया और गुस्से में नवयौवना पत्नी ने अपने लम्बे और तेज नाखूनों से अपने पति को घायल कर दिया। घमासान द्वंद्व हुआ। तेज सिसकियों की आवाजों से सारे मोहल्ले की नींद हराम हो गई। इस झगड़े का मूल कारण अभी रहस्य बना हुआ है जिसे जल्द ही पाठकों के सामने लाया जाएगा।'' समाचार को 'स्वर्ग दैनिक' के मुखपृष्ठ पर छापने का आश्वासन लेकर पत्रकार बंधु वापस लौट आए थे।

'स्वर्ग दैनिक' के अगले दिन के संस्करण के मुखपृष्ठ पर खोजी पत्रकार को अपनी खट्टी खबर नजर नहीं आयी। फिर क्या था, पत्रकार ने दैनिक का हर पृष्ठ और हर कॉलम खंगाल डाला लेकिन वह समाचार होता तो मिलता। पत्रकार के मन में शंका जागी–कहीं संपादक जो पार्टी से कुछ खा-पी तो नहीं गए? तभी वादा करके मुकर गए। आज वह संपादक जी को आड़े हाथों लेंगे। यह सोच-सोचकर उबलते हुए पत्र 'स्वर्ग दैनिक' के संपादकीय कार्यालय जा पहुंचे।

इससे पहले कि वह उफने, संपादक जी ने एक हस्तलिखित कागज उसके सामने सरका दिया। यह उस युवा नव-दम्पति का शपथ-पत्र था। लिखा था, "दन्त-क्षत और नख-क्षत उनके दाम्पत्य परिणय की चरम अभिव्यक्ति का परिणाम था। इसका उन्होंने स्वेच्छा से विरोध नहीं किया था। उनमें परस्पर वैमनस्य नहीं है। वे सुखी एवं संतुष्ट प्रेमी युगल हैं और किसी भी प्रकार के झगड़े, लड़ाई या कटुता को अस्वीकार करते हैं।''

शपथ-पत्र ने पत्रकार के उबाल पर पानी की बूंदों का काम किया। परंतु लावा किसी ओर तो बहना ही था, सो वैसे नहीं तो ऐसे बरस पड़े, "आपने यह क्या किया? छापने से पहले ही युवा दम्पति को बुला भेजा। इस तरह तो मिल ली चटपटी खबरें। अरे, आप छाप देते। पढ़कर नव-दम्पति अपने आप दौड़े आते। फिर जरूरत होती तो स्पष्टीकरण छाप दिया जाता। पृथ्वी पर तो हम ऐसा ही करते थे। पाठक पहले समाचार के चटखारे लेता, फिर उसके स्पष्टीकरण या भूल-सुधार के।''

पत्रकार ने अपनी बरसात की प्रतिक्रिया जाननी चाही। संपादक जी यथावत गंभीर थे, "तुम्हें यह जानना चाहिए यह स्वर्ग है, भूलोक नहीं, जहां लाभ-प्राप्ति के लिए लोग जान-बूझकर गलती करते हों और फिर क्षमा मांगते हों। आगे से ऐसी गलती क्षम्य नहीं होगी।''

पत्रकार महोदय ने मुंह लटका लिया। सोचने लगे–खट्टी खबरों का यहां कोई स्कोप नहीं है। दूध से तो पकवान बनाए जा सकते हैं लेकिन पानी से नहीं और यहां खून का पानी हुआ पड़ा था।

अतः यदि पत्रकारिता ही करनी है तो नमकीन खबरों की ओर रुख करना होगा। यह सोचते हुए पत्रकार महोदय संपादकीय कार्यालय से बाहर निकलने

ही वाले थे कि यमदूत सशरीर उपस्थित हो गए। पत्रकार महोदय यह भूल चुके थे कि स्वर्ग-प्रवास की उनकी एक माह की अवधि आज समाप्त हो रही थी। यमदूत उन्हें व्यवस्थानुसार नरक ले जाने आए थे। स्वर्ग के समाचारपत्रों का उत्थान न कर पाने की महती कसक का भारी बोझ उठाए पत्रकार महोदय दूतों के साथ नरक की ओर प्रस्थान कर गए।

हड़ताल की हड़ताल

दफ्तर पहुंचकर अनोखेलाल जी का सबसे महत्त्वपूर्ण और नियमित कर्म होता है दैनिक अखबारों पर नजर डालना। अगर सरकारी कर्मचारी देश के ताजा समाचारों से अनभिज्ञ होगा तो नौकरी क्या खाक करेगा! इसलिए वह एक-एक करके सभी अखबार चाटते हैं और फिर सारे दफ्तर में उन समाचारों पर साधिकार वार्ता करते हैं; मीमांसा करते हैं; खुलासा करते हैं। दफ्तरवालों को भी न्यूज पढ़ने के बजाए अनोखेलाल जी से ही सुनने में ज्यादा रस आता है। उसमें कुछ नमक और मिर्च ज्यादा लगी होती है। भाषा में उतार-चढ़ाव होता है। कहीं संवेदना होती है तो कहीं आक्रोश होता है। कहीं स्नेह होता है तो कहीं उलाहना। साथ में अनोखेलाल जी की धुरन्धर टिप्पणियां भी होती हैं। आलोचना और समालोचना भी होती हैं। पूर्व इतिहास होता है और साथ ही भविष्यवाणी भी होती है।

लेकिन उस दिन हद हो गयी। एक-एक करके अनोखेलाल जी ने सारे अखबार उलट डाले। एक-एक कालम चाट लिया। कोना-कोना झांक मारा, लेकिन हड़ताल का कहीं कोई समाचार न मिला। अनोखेलाल जी को समझ नहीं आ रहा था कि इस देश को क्या हो गया है। पत्रकारिता के स्तर में गिरावट आ गई है या फिर देश ही रसातल को जा रहा है। अनोखेलाल जी को याद नहीं आ रहा था कि पिछले दो दशकों में कोई भी ऐसा मनहूस दिन गुजरा हो जिस दिन अखबार में हड़ताल का समाचार न छपा हो, चाहे फिर वह धोबियों की हड़ताल हो या जन-प्रतिनिधियों की, चपरासियों की हो या पी॰ सी॰ एस॰ अधिकारियों की, बैंक कर्मचारियों की हो या कालाबाजारियों की, व्यापारियों की हो या कर्मचारियों की। उस पर तुर्रा यह कि आज यह हड़ताल अपने किसी भी रूप या छवि में नदारद थी। न कहीं अनशन था, न भूख-हड़ताल, न कहीं सांकेतिक थी, न अनिश्चितकालीन। न कहीं 'गो स्लो' था, न 'वर्क टू रूल'। न कहीं बंद था, न घेराव। न कहीं दुराग्रह था और न कहीं सत्याग्रह। गांधी जी के इस देश को यह क्या हो गया है! अनोखेलाल जी का मानसिक संतुलन डोल गया। उनका मन खराब हो उठा। देश पर संकट के

बादल दिखने लगे। उनका मन काम में न लगा। एक बार फिर अखबार उलटे-पलटे। पर खबर होती तो मिलती।

जब मन बहुत बेचैन हुआ तो छुट्टी की अरजी लेकर अनोखेलाल जी बॉस के पास जा पहुंचे।

बॉस ने अनोखेलाल जी की उपस्थिति का आभास पा नियमित प्रश्न दागा– "क्या खबरे हैं, अनोखेलाल जी?"

"बहुत बुरी खबर है, सर!" अनोखेलाल जी का स्वर डूबे जा रहा था।

"क्या?" बॉस का कलम चलते-चलते रुक गया।

"जी, सर, आज किसी हड़ताल का कोई समाचार नहीं है।"

बॉस मुसकराए। कलम फिर चल निकली। बोले–"यह तो बहुत शुभ-समाचार है, अनोखेलाल जी।"

"नहीं, सर, यह देश के लिए बहुत ही अशुभ है।"

"कैसे?" बॉस ने फाइल बंद करके बास्कट में सरका दी थी।

"मुझे लग रहा है कि अब अपने देश में अन्याय, अव्यवस्था और भ्रष्टाचार से लड़ने की शक्ति भी चुक गयी है। आज कहीं भी हड़ताल न होने का अर्थ है कि अब पूरे देश ने इन बिगड़े हुए हालात से समझौता कर लिया है। आशा की कोई भी किरण अब किसी भी क्षितिज पर शेष नहीं रह गयी है।"

"तुम तो दार्शनिक हो चले हो, अनोखेलाल जी!" बॉस ने कमर कुर्सी की पीठ से लगाकर अंगड़ाई ली।

"मेरा मन बहुत भारी हो रहा है, मैं छुट्टी की दरखास्त लाया हूं, सर!" अनोखेलाल जी ने अरजी बॉस के आगे कर दी।

बॉस ने अरजी स्वीकृत करते हुए कटाक्ष किया–"लो, अब तो हो गयी हड़ताल। जब कहीं और हड़ताल न हुई तो आपने ही हड़ताल कर दी। कोटा तो पूरा हो गया।"

पर बॉस का यह मखौल भी अनोखेलाल जी को सहला न सका। अनमना मन लिये वह घर आ गए।

श्रीमती जी अनोखेलाल जी के इस असमय आगमन से पहले चौंकीं, फिर हालात की जानकारी ले आश्वस्त हुईं और फिर उपयुक्त मौका समझ बिखर गयीं, "बस, आपका ही मन सब कुछ है, हमारा तो मन ही नहीं है। आप जब चाहें दफ्तर से छुट्टी कर लें पर हमें सुबह-शाम चूल्हा जरूर फूंकना पड़ेगा। कान खोलकर सुन लीजिएगा, आज घर में खाना नहीं मिलेगा।"

अनोखेलाल जी ने कानों में रुई नहीं डाली हुई थी। कान का मैल भी दो ही दिन पहले साफ कराया था। उन्होंने न सिर्फ सुन लिया वरन समझ लिया। आज देशभर की हड़ताल की गिरह उन पर और उनके घर पर ही आ पड़ी

हैं। तभी अखबारों से हड़ताल नदारद थी। अनोखेलाल जी ने हथियार डाल दिए। अपने अनोखे अंदाज में बोले, "चलो, यह भी ठीक ही है। आज भूख-हड़ताल ही रखेंगे।" और बिस्तर पर पसर गए।

इस धोबी-पछाड़ से श्रीमती जी चित आयीं। उनकी उद्घोषणा गलत दिशा में बह निकली थी। 'खाना नहीं मिलेगा' का यह अर्थ कहां से हो गया कि भूखे रहेंगे। पड़ोसन ने तो बताया था कि घर में खाना न देने का अर्थ होता है शानदार रेस्तरां में खाना। श्रीमती जी को पहली बार अनोखेलाल जी की समझदारी पर कोफ्त हुई। वह तुनकी, "भूख-हड़ताल क्यों करेंगे जी! कहीं चलकर खाएंगे-पिएंगे।"

अनोखेलाल जी थे कि समझकर भी नहीं समझना चाह रहे थे। जरा-सा समझते ही कम-से-कम सौ का पत्ता साफ हो रहा था। ऐसी भी समझ किस काम की जो सरासर नुकसान पहुंचाए। अब उनकी समझ में आ रहा था कि संसार में नासमझ ही क्यों सबसे ज्यादा सुखी हैं। उन्होंने बिस्तर में अंगड़ाई तोड़ते हुए करवट बदलकर आलस्य का सफल प्रदर्शन किया और घोषणा कर दी, "अब मुझसे तो उठा नहीं जा रहा है। कहीं चला-वला नहीं जा सकता।"

श्रीमती जी लपककर बिस्तर से ही आ लगीं। यह सुनहरी मौका, यह खिलखिलाता दिन, यह बेबाक छुट्टी। न आगे कोई योजना, न पीछे कोई चिंता। न इसकी खबर, न उसका अंदेशा। श्रीमती जी किसी कीमत पर इसे चूकना नहीं चाहती थीं, अतः ऐतिहासिक चौहान बन गयीं। पति के बालों में हाथ घुमाकर मनुहार की, "देखिए जी, हमारी शादी को बाईस साल हो गए। शादी के तुरंत बाद बस एक बार आप मुझे दिल्ली घुमाने ले गए थे। उसके बाद हम एक बार भी सैर-सपाटे को नहीं निकले हैं। आज ईश्वर ने मौका दिया है तो उसे ऐसे न गंवाइए।"

अनोखेलाल जी के मन में आया कि भूल-सुधार कर दें—मौका ईश्वर ने नहीं, हड़ताल ने दिया है। लेकिन वह भावावेश में कोई गलत कदम उठाने को तैयार नहीं थे। उनकी सुस्त इंद्रियां उनको निरंतर सचेत कर रही थीं कि सावधानी हटी और दुर्घटना घटी। अतः वह मुख्य विषय से नहीं हटे। आधुनिक जगत का सबसे कामयाब आयुध 'अर्थशास्त्र' उठा लिया। फिर करवट बदलकर चित हो गए। बोले, "बाईस साल पहले दिल्ली घूमने के लिए खर्च को दस का नोट बाबूजी ने दिया था। अब बाबूजी तो हैं नहीं, खर्चा कहां से आएगा?"

लेकिन वह श्रीमती भी तो अनोखेलाल जी की थीं। बाईस साल से उन्हें निभा रही थीं, झेल रही थीं, भुगत रही थीं। रग-रग से वाकिफ हो चुकी थीं। ऊंट किस करवट बैठेगा—यह हफ्ते भर नहीं, महीने भर पहले बता सकती थीं। यह सोचकर मन-ही-मन मुसकरायीं कि शेर स्वयं ही पिंजरे की ओर बढ़ रहा

है। बस, एक करारा धक्का और लगा तो जाल में फंसा पड़ा है। सावधानी से भूमिका तैयार की, "दस का नोट चाहिए?"

"दस का नोट तो बाईस साल पहले लगा था। अब हमारे देश ने तरक्की कर ली है, कम-से-कम सौ का नोट चाहिए।"

"बाईस साल में दस गुना। क्या कमीशन खाने का इरादा है! माना कि महंगाई हुई है, पर दस गुना तो नहीं हो सकती। ज्यादा-से-ज्यादा पचास का नोट लग जाएगा। तुम्हारा इरादा बीच में से पचास का नोट हजम करने का लग रहा है।"

"भाग्यवान, खर्चा तो तुम्हारे ही सामने होगा न। हिसाब में भी तुम कमजोर नहीं हो, फिर नीयत पर शक क्यों करती हो? जो बचेगा, लौट आएगा। घर से तो चाक चौबंद निकलना चाहिए।"

श्रीमती जी ने सोचा कि ढाई सौ रुपये वक्त-बेवक्त की दवा-दारू के लिए बचाकर रखे हैं। इस मौके पर उनमें से ही निकाल लेने चाहिए। फिर पूरा कर देंगे। इस समय मौका चूके तो गए। इन्हें बार-बार छुट्टी न मिलती है और न लेने की आदत है। बोलीं, "मैं फिलहाल उधार दे सकती हूं। तनखा मिलने पर लौटाने होंगे।"

श्रीमती जी के पास क्या-क्या गड़ा खजाना है, यह जानने की हर पति की इच्छा रहती है। अनोखेलाल जी भी सुराग पाने के लिए लालायित हो उठे। फिर श्रीमती जी से उधार लेने में क्या शर्म। घर-गृहस्थी में तो यह चलता ही रहता है। अतः क्षणभर का संकोच भी नहीं किया। तुरंत हामी भर ली।

श्रीमती जी ने सौ का पत्ता अनोखेलाल जी को थमा दिया और वक्त जरूरत के लिए शेष डेढ़ सौ रुपये अपनी अंटी में ठूंस लिये। तैयार होकर बाईस वर्ष पुरातन दम्पति नव दम्पति की तर्ज पर घर से बाहर निकले।

अनोखेलाल जी ने रिक्शावाले को हांक लगायी। श्रीमती जी ने आंखें तरेरीं, "बाईस साल पहले तो आप मुझे टैक्सी में ले गए थे।"

"मैडम, तुम्हें पता है आजकल टैक्सियों के किराए आसमान को छू रहे हैं। बाईस साल पहले की बात और थी। आज टैक्सी की तो फिर चल लिया सौ रुपये में भी काम।"

"देखो जी, चाहे कुछ भी हो, वही प्रोग्राम दोहराया जाएगा जो बाईस साल पहले हुआ था। मैंने दस के बजाए सौ का नोट दिया है। मुझे अच्छी तरह याद है तब दस रुपये में से भी आठ आने बच गए थे। ऐसी क्या मरी महंगाई दस गुने से भी ज्यादा बढ़ गयी। आप टैक्सी बुलाएं तो।"

त्रिया-हठ के सामने भला किसी की चली है और फिर आज तो वह फाइनेंसर भी थीं। भला कैसे झुकतीं? टैक्सी में यात्रा प्रारंभ हुई। गंतव्य पर

पहुंचते ही टैक्सीवाले ने पैंतालीस रुपये झटक लिये। झटका फाइनेंसर ने खाया। श्रीमती जी को लगा कि गलती हो गयी है। बाईस साल के अंतराल ने सचमुच टैक्सी आउट ऑफ बजट कर दी है। अंटी में ठुंसे हुए रुपयों ने धीरज बंधाया। पर मन ही मन तय कर लिया कि लौटते हुए जिद नहीं करेंगी और रिक्शा में ही लौटने वाली बात मान जाएंगी।

बाईस साल पहले अगला प्रोग्राम बाजार के गोल-गप्पे और चाट खाने का हुआ था। दुकान भी यही थी। दम्पति सामने जा खड़े हुए। पहले गोल-गप्पे हुए, फिर गरमा-गरम टिकियां और फिर दही की पकौड़ियां गुंजिया सहित। श्रीमती जी तृप्त हो गयीं। चाटवाले ने हाथ पोंछते हुए अड़तालीस रुपये मांग लिये। अनोखेलाल जी ने श्रीमती जी की ओर देखा और गिन दिए। अब सौ के नोट में से कुल जमा सात रुपये बाकी बचे थे, जो रिक्शा से घर लौटकर जाने के लिए भी काफी न थे और बाईस वर्ष पुरातन प्रोग्राम का अभी एक बटा तीन हिस्सा भी सम्पन्न न हुआ था। अभी तो पिक्चर की मैटिनी शो होनी थी, शाम को चाय-कॉफी बाकी थी, फिर बाजार की मटरगश्ती के बाद रात्रि-भोज था, तब जाकर कहीं घर लौटे थे बाईस साल पहले। इस बीच में पिक्चर शो के इंटरवेल में पापकोर्न भी खरीदे थे और कोल्ड ड्रिंक भी हुआ था, बाजार में मटर गश्ती करते हुए दो मासिक पत्रिकाएं भी खरीदी थीं—एक फिल्मी और एक गृहोपयोगी।

यह सब शेष कार्यक्रम सात रुपल्ली में तो समा नहीं सकता था सो फाइनेंसर ने बड़ी उदारता से अंटी ढीली कर दी। शेष डेढ़ सौ रुपये पतिदेव को थमाते हुए बोलीं, "ये डेढ़ सौ रुपये और थे। वक्त-बेवक्त के लिए रख लिये थे। अब तो ठीक रहेगा न। पैसा बात को या स्वाद को। पर समझ लो, इसके बाद मेरे पास कानी कौड़ी भी नहीं है, सारे खर्च मत कर देना।"

अनोखेलाल जी ने चेतावनी पर कम और नोटों पर ज्यादा ध्यान दिया। जब फाइनेंसर ने ही अंटी खोल दी तो वह क्यों मन भींचें। बालकनी के दो टिकट खरीदे और गद्देदार फर्स्ट क्लास सीटों पर पसर गए। पिक्चर हॉल एयर कंडीशन था और पिक्चर अल्ट्रा मॉडर्न। हीरोइन ने हीरो को 'आई लव यू' कहने में एक रील भी पूरी नहीं लगाई थी और 'किस' ले लिया था। अनोखेलाल जी भी मूड में आ गए। उन्हें लगा कि उनकी उम्र बाईस वर्ष घट गयी है। चोर भावना से सरकाते-सरकाते श्रीमती जी के कंधे पर हाथ रख दिया। श्रीमती जी ने हाथ झटक दिया और अंधेरे में उन्हें घूरा। अनोखेलाल जी ने पापकोर्न वाले को आवाज लगाई। एक पापकोर्न का पैकेट खरीदा और फाइनेंसर को पेश कर दिया। एक ही पैकेट में मियां-बीवी टुकुर-टुकुर टूंगते रहे और खुसुर-फुसुर बतियाते रहे। एक खत्म होने पर दूसरा पैकेट ले लिया गया। लगता था श्रीमती

जी भी अब बाईस साल छोटी हो गयी थीं। मध्यांतर में कोल्ड ड्रिंक हुई। और फिर टूंगना चालू। संभवतया दम्पति बाईस साल पहले के लंबे अवकाश को तीन घंटे के अंतराल में समाहित कर लेना चाहते थे।

पिक्चर हॉल से निकलकर अनोखेलाल जी फिर वास्तविकता में लौटे। हिसाब लगया तो अब उनके पास अस्सी रुपये बाकी थे। इनमें चाय, मैगजीन और डिनर–तीनों तो क्या ठीक से डिनर भी संभव न था। श्रीमान जी फाइनेंसर के समक्ष प्रश्नवाचक बन गए। अब समाधान श्रीमती जी के पास भी न रहा था। उन्होंने प्रोग्राम को कट किया और समस्या से उबरने का प्रस्ताव किया, "चलो, अब चाय पीकर घर चलते हैं। खाना घर पर बनाकर खायेंगे। आज बहुत बदपरहेजी हो गयी, और बदपरहेजी ठीक नहीं।"

श्रीमती जी के नवीन प्रस्ताव में भरसक यह झलक थी कि वह छक गयी हैं लेकिन उसकी अन्तर्निहित बेबसी को अनोखेलाल जी सूंघ पा रहे थे। पैंट की जेब में हाथ डाले अस्सी रुपये के नोटों को मसल रहे थे और हिसाब का जोड़-तोड़ बैठाने की अन्तहीन कोशिश कर रहे थे–क्या सचमुच बाईस साल में महंगाई बाईस गुना से भी ज्यादा हो गयी है।

चाय की चुस्कियां लगाकर रिक्शा में बैठ दम्पति घर लौट आए। इस बार कोई जल्दी न थी, कोई हठ भी न थी, कोई गलतफहमी भी न थी, इसलिए टैक्सी से रिक्शा ही ज्यादा भली थी।

घर जाकर श्रीमती जी खाना बनाने में जुट गयीं। महंगाई ने कमर ही नहीं, श्रीमती जी की हड़ताल भी तोड़ दी थी और अनोखेलाल जी सोच रहे थे कि इस देश में क्या सभी हड़तालें अब इसी बेबसी से टूटेंगी।

घोटाला घोंट डाला

आजकल समाचारों के आकर्षण का प्रथम केंद्रबिंदु 'घोटाला' हो गया है। इसे समाचार-पत्र जितने मनोयोग से सजाते-संवारते हैं, पाठक उससे अधिक चाव से बांचते हैं। चारों ओर घोटाला पकड़ने और छापने की होड़-सी लगी है। इस होड़ में देश का खुफिया तंत्र है कि पिसा चला जा रहा है। वह घोटाला पकड़ता है तो आरोप लगता है, "अब तक कहां सो रहे थे! अब आंखें खुली हैं।" और अगर नहीं पकड़ते तो सीधा सूली पर टांग दिया जाता है-"सारे निकम्मे लोग भरे पड़े हैं। अरे, भाई-भतीजे भी कभी घोटाला पकड़ सकते हैं।" अब खुफिया तंत्र न तो स्वयं घोटाला करता है और न कोई उसे बताकर घोटाला करता है। जब उसे सूचना प्राप्त होती है तो घोटाला घटित हो चुका होता है। अब वह भला कब, कहां और कैसे घोटाला पकड़े।

वास्तविकता यह है कि साधनों के अभाव में हमारे गरीब देश का खुफिया तंत्र अभी तक उस अलौकिक शक्ति से लैस नहीं हो सका है जो जन-जन में बसती है, कण-कण में बिखरी है, और देश की 90 करोड़ जनता के पल-पल के कर्मों का लेखा-जोखा रखती है। खुफिया तंत्र घोटाला घटित हो जाने पर ज्यादा-से-ज्यादा घोटाला करनेवालों को पकड़ भर सकता है, लेकिन क्योंकि वे अधिकतर उसके 'आका' निकलते हैं या फिर आकाओं के भी 'असली आका', इसलिए उसकी मजबूरी यह है कि उन्हें पकड़कर भी छोड़े रखना पड़ता है, ढूंढ लेने पर भी ढूंढते रहना पड़ता है।

हां, इधर देश के समाचारपत्रों की घोटालों के संबंध में जागरूकता बहुत बढ़ गयी है। उनकी यह जागृति इस सीमा तक पहुंच चुकी है कि वे 'भूल-सुधार' कर सकते हैं, लेकिन घोटाले की अफवाह को दावे के साथ न छापने की भूल नहीं कर सकते। लगता है कि किसी ने उन सभी के कानों में एक साथ फूंक मार दी है कि पाठकों को घोटाले की चटनी इतनी भाती है कि उसकी ललक में वे पूरा रद्दी अखबार, रद्दी में बेचने के लिए भी, पूरी कीमत देकर खरीद सकते हैं।

और शायद यह घोटाला-आकर्षण की प्रतिक्रिया ही थी कि मेरे एक परिचित संपादक पिछले दो महीनों से मुझे बराबर टकराए जा रहे थे। हर फोन पर उनका एक ही स्नेह-मंडित जवाब होता था–"यार, आजकल बहुत व्यस्त चल रहा हूं, मरने तक की भी फुरसत नहीं है, कुछ दिन और रुक जाओ। फिर आराम से जमकर बैठेंगे।" अब यह विवादास्पद विषय हो सकता है कि मरने के लिए फुरसत की भी जरूरत होती है या नहीं, लेकिन नामी-गिरामी समाचारपत्र के वह ख्यातिप्राप्त संपादक निरंतर यह वहम अपने मन में पाले हुए थे कि वह दिन के चौबीस घंटों में कम-से-कम तीस घंटे व्यस्त रहते हैं। अतः एक दिन मैंने उनको उनके ही सिक्कों में तोलने की ठान ली।

सीधा फोन उठाया और ब्रह्मास्त्र दाग दिया, "जनाब, आपको शहर की लाइब्रेरी में हो रहे 'घोटाले' की भी कोई सूचना है?"

"क्या! लाइब्रेरी-घोटाला! क्या हुआ है वहां? इस समय आप कहां से बोल रहे हैं? मेरे ऑफिस कितनी देर तक पहुंच सकते हैं?" संपादक जी लगभग बौखला उठे थे। विस्फोट का वांछित प्रभाव हुआ लगता था।

"मेरे घर से आपके ऑफिस की दूरी बीस मिनट है और अभी मुझे चलने के लिए तैयार होने में भी लगभग एक घंटा लग जाएगा।" मेरा स्वर संयत था। शायद मैं मन-ही-मन संपादक जी की बौखलाहट का आनंद ले रहा था। इतनी प्रत्याशित प्रतिक्रिया की मुझे संभावना नहीं थी और मुझे सचमुच घर से निकलने की तैयारी के लिए कुछ समय की दरकार थी।

"देखिए, आप कुछ जल्दी तैयार हो जाइए न! मैं घोटाले के बारे में विस्तार से सब कुछ जानना चाहता हूं। आप एक घंटे में मेरे पास पहुंच रहे हैं।" संपादक जी के स्वर में अधिकारमिश्रित आग्रह था।

"मैं जल्द से जल्द आने की कोशिश करता हूं।" मैं प्रभावित हुआ था। अपने घोटाले की महत्त्वहीनता का आभास मुझे था, इसलिए मैं संपादक जी से बहुत अधिक नहीं खेल सकता था।

संपादक जी आश्वस्त हुए। उन्होंने मुझे चेताया, "और हां, आप इस घोटाले की चर्चा मुझसे मिलने से पूर्व किसी से नहीं करेंगे और किसी को यह भी नहीं बताएंगे कि आप मुझसे मिलने आ रहे हैं। समझ गए न!"

"आप निश्चिन्त रहें!" कहकर मैंने चोगा रख दिया था। फिर मैंने मानसिक तनाव से मुक्ति के लिए एक अंगड़ाई ली। संपादक जी की बौखलाहट, उत्सुकता और आग्रह मुझे कहीं सहला रहा था, लेकिन मेरे घोटाले की 'तुच्छता' चोर बनकर मेरे मन में सेंध लगा रही थी। लेकिन अब तक तीर था कि कमान से निकल चुका था, सो उसके आघात के दायित्व को तो झेलना ही था। हां, संतोष यह था कि संपादक जी मेरे मित्र थे और उन्होंने काफी अरसे से समय न देकर मुझे काफी सताया हुआ था।

सवा घंटे में मैं संपादक जी के कैबिन में उनकी कुर्सी के सामने विराजमान था। आज उनके स्वागत में कुछ ज्यादा ही गरमाहट थी। बोले–"यार, लगता है कि तुम हमसे रूठे ही रहते हो! बहुत-बहुत दिनों तक हमें याद ही नहीं करते। आज भी बुलाने पर आए हो। हैं न..."

और इससे पहले कि मैं प्रतिवाद करूं और अपना उलाहना पेश करूं, मुझे बोलने का समय न देते हुए इंटरकॉम पर आदेश प्रसारित हुआ, "मैडम, सुधाकर को तुरंत मेरे कैबिन में भेजिए और तीन कोल्ड कॉफी..."

मेरी ओर रुख करके चिर-परिचित मुसकान बिखेरी, "हां, तो क्या घोटाला कर डाला आपने शहर की लाइब्रेरी में?"

मैं इस विशेष स्थिति के लिए भूमिका तैयार करके कुछ कहने को मुंह खोलने ही वाला था कि संपादक जी फिर बोल उठे–"पर अभी जरा ठहरिए। मैंने सुधाकर को बुलाया है। हमारे पत्र का बेहतरीन क्राइम रिपोर्टर है। कलम में जादू है जादू! पर बेचारा 'अनलकी' रहा। पिछले साल से एक भी नया घोटाला उसके पल्ले नहीं पड़ सका। अब बताइए, अगर 'रॉ मैटिरियल' ही न हो तो कोई प्रोडक्ट क्या खाक बनाएगा! वह आ जाए तो आपका घोटाला विस्तार से सुनेंगे। वह जरूरी बातें नोट भी करता चलेगा।"

सुधाकर को आने में समय नहीं लगा। अगले ही क्षण वह कैबिन के अंदर था। संपादक जी उसे कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए कह रहे थे– "देखो सुधाकर, अब तुम्हें मुझसे शिकायत नहीं रहनी चाहिए। मैंने जयरथ की बजाए तुम्हें बुलाया है। बिलकुल ताजा और नया मामला है। मैं तुम्हें जमकर फेवर करना चाहता हूं। अब देखना यह है कि कितना 'एक्सप्लायट' कर सकते हो तुम इस 'न्यूज' को...।"

सुधाकर कृतज्ञता से सराबोर हो उठा था, "सर, आपने क्या कुछ नहीं किया है मेरे लिए, मैं कभी भुला सकता हूं क्या!"

संपादक जी फिर मेरी ओर मुखातिब हुए थे–"हां तो, उमंग जी, सुधाकर भी आ गया है। अब हम शुरू कर सकते हैं।"

इतने लंबे घटनाक्रम में मैं अपनी भूमिका कई बार निश्चित करके संशोधित कर चुका था। मेरे चारों ओर जो महत्त्व एकत्रित किया जा रहा था, उसके अनुरूप मेरे पास सामग्री नहीं थी। मैं अपने घोटाले में भरसक जान डालने की कोशिश कर रहा था किंतु मेरे विचार से उसका स्तर संपादक जी के कैबिन में हंसी-ठट्ठे से ऊपर उठ ही नहीं पा रहा था। अतः मैं कहीं अपराध-भावना से पीड़ित हो चला था। इन मानसिक हिचकोलों से संपादक जी ने ही मुझे उबारा, "और हां, सुधाकर, उमंग जी का परिचय कराना तो मैं भूल ही गया। अरे भई, ये हैं उमंग जी, मेरे अभिन्न मित्र, कुछ देर पहले इनका फोन आया

था कि नगर की लाइब्रेरी में 'घोटाला' हो गया है। मैंने तुरंत इन्हें बुलवा लिया। आखिर हम किसलिए बैठे हैं यहां! देश, नगर या समाज में अपराध हो और हम उसका भंडाफोड़ न करें। हमारा देश और समाज सुधरेगा कैसे? आप निडर होकर सब कुछ बताइए, उमंग जी, हम समाज में फैलते कोढ़ को आसानी से पनपने नहीं देंगे..."

संपादक जी ने मेरी भूमिका बिछा दी थी। अत: मैंने यहीं से डोर पकड़ना श्रेयस्कर समझा, "संपादक जी, बात कोई खास नहीं है। एक छोटी-सी घटना है, जिसे इतना तूल नहीं दिया जा सकता।"

"जो बात आपके लिए खास नहीं है, वह हमारे लिए खास हो सकती है। समाज और देश के लिए खास हो सकती है। आप बस विस्तार से घटना बता डालिए। उसका खास-बेखास का मूल्यांकन करने के लिए तो हम बैठे हैं।" सुधाकर जी ने मेरी बात बीच में ही काट दी थी। वह नोटबुक और पैन खोलकर सतर्क बैठे थे।

'अब जो होगा सो भुगता जाएगा' के मनोभाव से एक गहरी सांस खींचकर मैंने घटना का विवरण दिया–"कल मैं शहर की लाइब्रेरी गया था। वहां सहायक लाइब्रेरियन मिश्र जी मेरे परिचित हैं। उनसे दो पुस्तकें मांगीं, जिनके उद्धरण की मुझे आवश्यकता थी। घंटा लगाकर मिश्र जी ने मुझे सूचित किया कि दोनों ही पुस्तकें मिल नहीं पा रही हैं। मेरा लेख अधूरा पड़ा था, इसलिए मैंने मिश्र जी से आग्रह किया कि यह बता दें कि पुस्तकें किन सज्जन को इश्यू की गई हैं, तब तक मैं लाइब्रेरी में ठहरकर कुछ अनावश्यक बांच लेता हूं। मिश्र जी मेरी खातिर चार घंटे लगे रहे। सारे ही रजिस्टर छान मारे। लेकिन पुस्तकें होतीं तो मिलतीं। आकर मुझे बताया कि दोनों पुस्तकें गायब हैं। न तो लाइब्रेरी में मौजूद हैं और न किसी को इश्यू ही की गई हैं। और साथ में यह भी जोड़ा–'यही क्या, अनेक पुस्तकें ऐसी हैं जो ढूंढते-ढूंढते थक गए पर मिल ही नहीं पा रही हैं।' मुझे पांच घंटे लगाकर भी खाली हाथ लौट आना पड़ा।" मैंने विराम पकड़ा और प्रतिक्रिया जानने के लिए दोनों उत्सुक श्रोताओं की ओर देखा।

कैबिन में दो मिनट के लिए पूर्ण सन्नाटा छा गया था। धीरे-धीरे संपादक जी का सिर उनकी हथेलियों पर आ टिका था और उनका स्वर जैसे सागर के तल से निकल रहा था, "इसमें तो कोई घोटाला नहीं है। इस घटना की न्यूज-वैल्यू तो जीरो है।"

"सर, घोटाला तो है पर अभी आपकी पकड़ में नहीं आ पा रहा है।" सुधाकर ने तुरंत प्रतिवाद किया। वह खोजी क्राइम रिपोर्टर घटना में डुबकी लगा चुका था। उसकी वाणी में उत्साह था।

कुर्सी पर अपना एंगिल बदलकर बोला, "सर, इस सूचना को आप जरा इस दृष्टिकोण से देखें : प्रतिवर्ष नगर-महापालिका नगर की लाइब्रेरी को पुस्तकें खरीदने के लिए दस लाख रुपये का अनुदान देती है, लेकिन लाइब्रेरी में पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं, क्यों? क्योंकि वे खरीदी ही नहीं गयी हैं। केवल पुस्तकों के नाम रजिस्टरों पर चढ़ा लिये गए हैं। यह पुस्तकें न किसी सदस्य के नाम इश्यू हुई हैं और न ही लाइब्रेरी में मौजूद हैं। अब बताइए, घोटाला हुआ कि नहीं?"

मैं इस समय सुधाकर की पत्रकारिता से गहरा प्रभावित था। वह सच्चे मायने में बेहतरीन क्राइम-रिपोर्टर लग रहे थे। उन्होंने अपने तर्कों से मेरे अपराध-बोध को किसी हद तक कम किया था, परंतु संपादक जी थे कि अभी निराशा से नहीं उबरे थे। बोले, "पर न्यूज-वैल्यू तो कुछ नहीं है।"

"वह भी है, सर, परसों मेयर साहब के लड़के ने प्रधान लाइब्रेरियन के लड़के के साथ नावल्टी टाकीज पर एक साथ पिक्चर देखी है। मैं स्वयं हॉल में मौजूद था और चश्मदीद गवाह हूं। यही वह संपर्क-सूत्र है जो लाइब्रेरी में घोटाला करा रहा है। आखिर इतना बड़ा घोटाला अकेला लाइब्रेरियन तो नहीं कर सकता। जब तक मेयर का स्पष्ट हाथ न हो तो दस लाख की रकम अकेले डकारी जा सकती है क्या!" सुधाकर जी धारा-प्रवाह में थे। उनके ज्ञान और तर्कों से मैं भौंचक्का रह गया था। मैं जिसे साधारण घटना समझ रहा था, उसकी असाधारणता से अब मैं स्वयं अभिभूत हो चला था।

अंतिम शब्द सुधाकर जी ने इतना जोर देकर कहे थे कि उनको सुनकर प्रधान संवाददाता जयरथ जी भी केबिन के अंदर आ गए थे। "हूं, यह तो कुछ बात बनी", संपादक जी थोड़े आश्वस्त हुए थे, "लेकिन इसमें मेयर का हाथ कैसे सिद्ध करोगे?" कहकर संपादक जी ने जयरथ जी को कुर्सी पर बैठने का इशारा किया था और वह कुर्सी खींचकर बैठ गए थे।

जयरथ जी की उपस्थिति ने सुधाकर जी को और उत्साहित कर दिया था। "आजकल घोटालों का स्टाइल ही बदल गया है, सर। अब तो एजेन्ट सिर्फ फोन पर बातें करके करोड़ों का घोटाला कर डालते हैं। यहां तो दोनों के जवान लड़के मित्रता साधे हुए हैं। इससे बड़ा सबूत भला और क्या चाहिए कि मैंने स्वयं देखा है। जरा सोचिए, अगर कोई गोलमाल नहीं है तो एक मेयर के लड़के की लाइब्रेरियन के लड़के से दोस्ती का क्या मतलब। आप चिंता न करें, मेयर साहब को इस दोस्ती की वजह समझाना भारी पड़ जाएगा। घोटाले में मेयर साहब का हाथ तो सिद्ध हुआ पड़ा है।"

अब तक कैबिन में तीन कोल्ड कॉफी आ गई थीं। जयरथ जी न केवल कुर्सी में भली प्रकार स्थापित हो चुके थे वरन् हालाते-हाजा से भी कुछ-कुछ बेतकल्लुफ हो चले थे, लेकिन उनकी ग्रहण-शक्ति अभी कुछ और चाहती थी,

इसलिए वह मौन रहे। "फिर भी न्यूज स्थानीय स्तर की ही तो हुई?" संपादक जी फिर से प्रश्नवाचक ही बने थे। इस बार जयरथ जी का संवाददाता-मस्तिष्क चुप नहीं रह सका। आखिर उनका अपने कनिष्ठ सहयोगी के लिए भी कुछ कर्तव्य बनता था, इसलिए उन्होंने डोर पकड़ ली। "नहीं, सर, यह तो राष्ट्रीय स्तर की न्यूज है। आपको मालूम नहीं, आजकल हमारे मेयर साहब प्रदेश के शिक्षामंत्री के साथ पेंगें बढ़ा रहे हैं। पिछले शनिवार को शिक्षामंत्री अपने शहर में आए थे और मेयर साहब का आतिथ्य ग्रहण किया था। इस न्यूज को पूर्णतया गुप्त रखा गया था और प्रशासन ने इसे किसी अखबार में नहीं छपने दिया था। अगर कोई गोलमाल या घोटाला नहीं है तो इतनी गोपनीयता क्यों? बिना शिक्षामंत्री को हिस्सा दिए मेयर साहब कुछ भी नहीं खा सकते। मेयर साहब के साथ तो शिक्षामंत्री का नाम जरूर आएगा।"

एक के बाद एक नये रहस्योद्घाटन से मैं हक्का-बक्का हो चला था। घोटाले की यह संरचना और उसका निर्माण अब मेरे लिए अत्यंत कौतूहल का विषय बनता चला जा रहा था।

"इसका अर्थ हुआ कि तुम इसे मुखपृष्ठ पर ही छापोगे?" संपादक जी ने जयरथ से सीधा प्रश्न किया। राष्ट्रीय महत्त्व की सभी सूचनाएं समाचारपत्र के मुखपृष्ठ पर ही छपती हैं। और इस पत्र के कार्य-विभाजन के अनुसार मुख-पृष्ठ लेखन सामग्री का कार्यभार वरिष्ठ संवाददाता जयरथ के कार्यक्षेत्र में आता था।

मैंने देखा कि सुधाकर जी का मुंह लटक गया था। उनका कार्यक्षेत्र समाचारपत्र का तीसरा पृष्ठ था। जयरथ जी जैसे उनके हाथ का निवाला छीने ले जा रहे थे।

"मुखपृष्ठ पर और रेखांकित बंद कॉलम में, सर! इसमें तो अभी कई आकर्षक बिंदु निकलेंगे। शिक्षामंत्री देश की राजनीति को नया ध्रुवीकरण देना चाहते हैं। उनकी योजनाओं का भी इस घोटाले से सीधा संबंध बैठेगा।" जयरथ उत्साहित थे।

सुधाकर जी ने संपादक की ओर देखकर टोका, "पर कुल घोटाला लाखों का ही तो है। लाखों का घोटाला हमारे जैसे प्रसिद्ध समाचारपत्र के मुखपृष्ठ पर छपे, क्या यह उचित होगा?" उन्होंने इस समाचार को फिर से तीसरे पृष्ठ पर घसीटने के लिए जोर लगाया था।

पर जयरथ जी ने भी जैसे चुनौती स्वीकार कर ली थी कि वह इस घोटाले को मुखपृष्ठ से हटने नहीं देंगे। संपादक जी को संबोधित करते हुए बोले, "सर, मेरी जानकारी में मुख्य लाइब्रेरियन इस लाइब्रेरी में पिछले नौ वर्षों से कार्यरत हैं। दस लाख प्रति वर्ष से नौ वर्षों में अनुदान राशि कितनी हुई?"

हिसाब तुरंत सुधाकर जी ने लगाया, "नब्बे लाख घोटाला तो फिर भी लाखों में ही रहा न, करोड़ों में तो नहीं पहुंच सका।"

जयरथ जी कुछ मायूस हुए थे, फिर अचानक जैसे उन्हें कुछ सूझा। मेरी ओर मुखातिब होकर पूछा—"क्या आप बता सकते हैं कि नौ वर्ष पूर्व मुख्य लाइब्रेरियन पांडे जी ने किस महीने में इस लाइब्रेरी में अपनी सेवाएं प्रारंभ की थीं?"

"मैं पूछकर बता सकता हूं।" मेरा संक्षिप्त उत्तर था।

"तो जरा अभी मालूम करके बताएं।" जयरथ जी ने टेलीफोन का चोगा मेरे हाथ में पकड़ा दिया।

मैंने नगर लाइब्रेरी को फोन मिलाया। अपने परिचित मिश्र जी से ही बातें कीं और वांछित जानकारी चाही। उन्होंने बताया कि प्रमुख लाइब्रेरियन जी ने नौ वर्ष पूर्व फरवरी में इस लाइब्रेरी की सेवाएं प्रारंभ की थीं।

सुनते ही जयरथ कुर्सी से उछल पड़े—"यह घोटाला करोड़ों का हो गया, सर!"

"कैसे?" संपादक जी फिर असमंजस में थे।

"वैरी सिम्पल। देखिए, अनुदान राशि आर्थिक वर्ष अर्थात् 1 अप्रैल से 31 मार्च के लिए मिलती है। पांडे जी ने जनवरी में ज्वॉइन किया था। इस प्रकार उनके कार्यालय में दस अनुदान राशियां प्राप्त हुईं। दस गुणा दस लाख बराबर करोड़। तो घोटाला करोड़ों का हो गया न!" जयरथ जी ने अपनी उक्तियों से न्यूज को पुनः मुखपृष्ठ पर स्थापित कर दिया था।

मैंने आपत्ति की, "करोड़ों का नहीं, करोड़ का!" किंतु नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता है। कैबिन में उपस्थित किसी कान ने मुझे सुनने की प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की थी। तभी इंटरकॉम से मैडम ने जयरथ को सूचित किया, "प्रेस सेक्शन में गुप्ता जी दो मिनट के लिए आपसे तुरंत मिलना चाह रहे हैं। शायद सेटिंग गड़बड़ा रही है।" अनिच्छा से जयरथ जी को महत्त्वपूर्ण वार्ता को बीच में ही छोड़ना पड़ा।

जयरथ के उठते ही सुधाकर जी ने संपादक जी से शिकवा किया—"सर, आप तो इस बार मुझे फेवर करने को कह रहे थे।"

"चाह तो मैं यही रहा था पर अब मैं क्या कर सकता हूं। तुम देख ही रहे हो कि यह घोटाला राष्ट्रीय स्तर का और करोड़ों का बैठ रहा है। इसे तो मुखपृष्ठ पर आना ही चाहिए।" संपादक जी हालात से मजबूर लग रहे थे।

सुधाकर जी ने एक बार फिर कोशिश की, "पर सर, इसका प्रारंभ तो मैंने किया था।"

"हां, पर अंत तो जयरथ ने किया है न। फिर हम अपने पत्र की पॉलिसी भी तो नहीं बदल सकते।" संपादक जी जयरथ से काफी प्रभावित थे। प्रेस

सेक्शन से जयरथ जी लौट आए थे। उनसे संपादक जी ने जैसे अंतिम प्रश्न किया–"किस्तों में छापने का इरादा है क्या?" जयरथ जी मुसकराए, "किस्तों की घोषणा नहीं करेंगे सर, पर जैसे-जैसे घोटाले की परतें खुलती चली जाएंगी, किस्तें अपने आप आती चली जायेंगी।"

सारा कार्यक्रम निश्चित हो गया था। कल के समाचारपत्र के मुखपृष्ठ पर नगर की लाइब्रेरी की घटना सुर्खियों में छपने वाली थी। प्रारंभ में मैं इस घटना की तुच्छता-बोध से ग्रसित था और अब मैं भंडाफोड़ की भव्यता और विराटता से आशंकित हो चला था। लेकिन तीर तब भी मेरी कमान से निकला हुआ था और अब भी। प्रजातंत्र के मीडिया जगत् में मात्र दो पुस्तकों का न मिलना इतना बड़ा कांड कर सकता है, इसका मुझे पूर्व में लेशमात्र भी आभास न था। अतः मैंने अपने बचाव के लिए संपादक जी से प्रश्न किया–"इसमें मेरा नाम तो कहीं नहीं आएगा न?"

उत्तर जयरथ ने दिया, "आप निश्चिंत रहें, हम अपने विश्वसनीय सूत्रों की गोपनीयता को कभी भंग नहीं करते।"

"पर यदि दबाव पड़ा या इसका विरोध हुआ तब तो आपको अपनी जानकारी का स्रोत बताना ही पड़ेगा।" मेरा मन अभी तक आशंकित था।

"प्रश्न ही नहीं उठता। समाचार-जगत् में रहते-रहते हम बहुत घिस-पिट लिये हैं। 'जान जाए पर नाम न बताई' के सिद्धांत का पालन करते हैं।"

इस तसल्ली से मैं आश्वस्त नहीं हो सका था, लेकिन मैं अपने ही चक्रव्यूह का शिकार था सो किंकर्तव्यविमूढ़-सा कैबिन से उठकर चला गया था।

रात्रि को नौ बजे घंटी बजी थी। मिश्र जी स्वयं मेरे दरवाजे पर उपस्थित थे। देखकर मैं चौंका कि कहीं भंडाफोड़ तो नहीं हो गया। मुंह से निकला, "आप! इस समय!" मिश्रजी मुस्कराए, "आपको जो दो पुस्तकें चाहिए थीं न, वे मिल गयी हैं। अपने निर्धारित क्रम पर नहीं लगी थीं इसलिए परसों न मिल सकी थीं। आपको असुविधा न हो, इसलिए मैं अपने नाम इश्यू कराकर ले आया हूं। आप रख लीजिए। काम करके लौटा दीजिएगा।"

मैं कृतज्ञ हुआ था। अपराध-बोध ने फिर से मुझे दबोच लिया था। मिश्र जी को जल्दी से चाय पिलाकर मैंने विदा किया और तुरंत संपादक जी को फोन मिलाकर सूचना दी कि लाइब्रेरी में दोनों पुस्तकें मिल गयी हैं। साथ ही आग्रह किया कि अब वह कृपया करोड़ों रुपये की घोटाले वाली राष्ट्रीय स्तर की खबर न छापें। सुनकर संपादक जी फोन पर हंसे थे, "अब यह कैसे हो सकता है? मैटर तो प्रेस में गया। संभवतया छप भी गया होगा। और फिर आपकी ही दो पुस्तकें मिली हैं, लाइब्रेरी में घोटाला तो करोड़ों रुपयों का है। सभी पुस्तकें तो नहीं मिली हैं। आप निश्चिंत होकर सोइए। आगे का काम

हमारा है। अभी आप इन राजनीतिज्ञों और सफेदपोशों को नहीं जानते। अब लाइब्रेरी में सुधार तो हम करके रहेंगे।" कहकर संपादक जी ने फोन रख दिया था।

मैं अचंभित था। प्रातः समाचारपत्र के मुखपृष्ठ पर रंगीन रेखांकित बॉक्स के चार कॉलमों में निम्नलिखित हैडलाइन्स में गर्मागर्म समाचार छपा था–

'शहर की लाइब्रेरी में करोड़ों के घोटाले का भंडाफोड़!'

'गोलमाल में मेयर और शिक्षामंत्री का हाथ।'

'मुख्यमंत्री ने उच्च स्तरीय जांच की घोषणा की।'

और मैं था कि समाचार पढ़ रहा था और सिर धुन रहा था।

अक्ल बड़ी या भैंस

महानगर में जबरदस्त मुहिम छिड़ा था। अचानक महानगरपालिका ने दूध की सभी डेरियों को व्यस्त नगर के बाहर स्थानांतरित करने का निर्णय ले डाला था। अब डेरियों से निकल-निकलकर भैंसें नगर के रास्तों को नहीं रोक पाएंगी। उनकी रैली कारों की गति और लय में रोड़ा नहीं बनेगी, उनका बेसुरा 'रंभाना' महानगर के व्यस्त सुर और ताल को बेसुरा नहीं कर सकेगा।

लेकिन इसमें एक लोकतांत्रिक गलती रह गई।

इस एकपक्षीय निर्णय में भैंसों से विचार-विमर्श नहीं किया गया। उनकी राय नहीं ली गयी। उनको नोटिस भी नहीं दिया गया और उनसे आपत्तियां भी इन्वाइट नहीं की गयीं। अतः इस घोर अलोकतांत्रिक तरीके पर आंदोलन तो होना ही था। सो छिड़ गया।

भैंसाली के मैदान पर भैंसों की विराट सभा आयोजित हो गयी। महानगर में मंशाराम पहलवान की डेरी सबसे बड़ी है। एक सौ बावन भैंसे हैं। इनमें एक गुस्सैल भैंस भी है। बात-बात पर गुस्सा खा जाती है। हर जगह और हर बात पर सींग भिड़ा देती है। यह भी नहीं देखती कि सींग कहां जाकर लग रहा है। नुकसान अपना होगा या पराया। कई बार सींग दीवार में ही घुसा दिए। घायल भी हो गयी, पर गुस्सा नहीं छोड़ा। पहलवान ने उसका नाम 'मरखनी भैंस' रख छोड़ा है। डेरी की सभी भैंसें उससे डरती हैं। पहलवान भी डरता है। उसने इस आंदोलन के लिए चंदा मांगा तो पहलवान ने चुपचाप पांच सौ एक रुपये की रसीद कटा ली। बराबर के फलवाले से चंदा मांगा तो उसने भी तुरंत दो सौ एक रुपये देकर पिंड छुड़ाया। रोज आते-जाते उसके टोकरे में मुंह मारती थी। अब कुछ तो लिहाज करेगी। इस तरह आनन-फानन में ही मरखनी भैंस ने सबसे ज्यादा चंदा इकट्ठा कर लिया था।

एक तो सबसे बड़ी डेरी की भैंस, दूसरा मरखनी के खिताब से अलंकृत, तीसरा सबसे ज्यादा चंदा अंटी में! नेता के सभी गुण विद्यमान थे मरखनी में, इसलिए लपककर स्टेज पर चढ़ गयी और माईक संभाल लिया।

किसी की विरोध करने की हिम्मत न हुई। मंशाराम की डेरी की भैंसों ने एक साथ रंभाकर स्वागत किया।

मरखनी भैंस ने मंच से घोषणा की, "बहनो, यह भाषणबाजी का मौका नहीं है। 'करो या मरो' के हालात पैदा हो गए हैं। हम अपनी पसली निचोड़-निचोड़कर नगरवासियों को दूध पिलाती हैं और ये हमें दूध से मक्खी की तरह निकालकर बाहर फेंक रहे हैं–वह भी घोर अलोकतांत्रिक तरीके से। यह अन्याय अब हमसे सहन नहीं होगा।"

सभी भैंसें एक स्वर में रंभाईं। भैंसाली मैदान गूंज उठा। विराट सभा का अनोखा समां बंध गया था। पत्रकार भी सूंघते हुए आ पहुंचे थे।

मरखनी भैंस ने भाषण आगे बढ़ाया–"लोग हमें निरक्षर भट्टाचार्य समझते हैं। हमारी बराबरी काले अक्षर से करते हैं। क्यों? क्योंकि हम पाठशाला में नहीं पढ़े। कॉलेज नहीं गए। जब नगरवासियों के बच्चे पोथियां बांच रहे थे, हम उनके लिए दूध बना रही थीं। उनके स्वास्थ्य की चिंता कर रही थीं। हम त्याग में रहीं। परमार्थ में रहीं। बस, इसीलिए तो नहीं लिख-पढ़ सकीं हम।"

"ठीक है, कि हमने संविधान नहीं पढ़ा है। लेकिन उसकी आत्मा को जाना है, पहचाना है। हमें पता है कि हमारे भी उतने ही अधिकार हैं जितने देश के किसी अन्य नागरिक के। हमारे संविधान ने सभी को समान अधिकार प्रदान किए हैं।"

भैंसें एक बार फिर समर्थन में रंभाईं। मरखनी भैंस उत्साहित हो उठी। धाराप्रवाह फिर चल निकला–"रहा प्रदूषण का सवाल, सो मानव हमसे ज्यादा प्रदूषण फैलाता है। मैं इसे आंकड़ों से सिद्ध कर सकती हूं। फिर उसे शहर से बाहर क्यों नहीं भेजा जाता? उसने बाजारों में, गलियों में, चौराहों में भीड़ बढ़ा रखी है। शहर को गंदा और दूषित कर रखा है। कायदे से उसे ही शहर से बाहर निकाल दिया जाना चाहिए था। समस्या का यही सही हल था। यही सही निदान।"

मरखनी ने थोड़ा रुककर चारों ओर नजर घुमाई। वह यह जानना चाहती थी कि उसके भाषण का अपेक्षित असर भी हो रहा है अथवा नहीं। भैंसें दत्तचित्त हो उसे सुन रही थीं। भाषाण के ओज और प्रवाह से आत्मविभोर थीं।

इतने विराट पैमाने पर भैंस सम्मेलन देखने के लिए मानव दर्शक भी चारों ओर जुट गए थे और इस भैंस एकता से आश्चर्यचकित थे।

समाचार मेयर साहब के पास भी पहुंच गया था कि भैंस आंदोलन का बिगुल बज उठा है। वह अब पछता रहे थे कि क्यों न पहले ही भैंसों के एक प्रतिनिधि को सभा में आमंत्रित कर लिया। एक भैंस को समझाना कौन बड़ी बात थी। जब सारे सभासद पीछे पड़ जाते, तर्क-वितर्क होते तो क्या एक भैंस

को भी नहीं संभाल पाते। न होता तो कुछ ले-देकर ही काम निपट जाता। लेकिन अब जो प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास किया जा चुका था, उसे वापस लेने में महापालिका की हेठी थी। और उधर थी मरखनी। पक्की अड़ियल टट्टू। वह भी विराट भैंस-सम्मेलन के मंच पर। आंदोलन का बिगुल गुंजाती। मेयर साहब की हालत कुछ सांप-छछूंदर जैसी हो रही थी। विरोधी आंदोलनों का उन्हें कोई मीठा अनुभव नहीं था।

मरखनी ने उसी ओज से घोषणा की–"अब हमें अपने अधिकारों की खातिर सड़क पर उतरना पड़ेगा। डेरियों में सड़ने से सड़कों पर मरना बेहतर है। बोलो–भैंस एकता जिंदाबाद।"

भैंस समुदाय समवेत स्वर में रंभा उठा।

एक भैंस ने बीच में टोककर प्रस्ताव किया–"क्या पहले मेयर को ज्ञापन देना ठीक न होगा?" यह धनीराम की डेरी की भैंस थी। वहां इसे प्यार से 'होशियारी' कहते थे।

मरखनी को अच्छा नहीं लगा। लेकिन होशियारी के प्रस्ताव में जान थी। महाभारत से पहले कृष्ण ने भी 'शांति संदेश' भिजवाया था। मंच से इसका विरोध उचित नहीं लग रहा था। कहीं आंदोलन बिखर न जाए, इसलिए मरखनी ने होशियारी के प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। तय हुआ कि पहले ज्ञापन दिया जाएगा। यदि फिर भी मेयर न माना तो सड़कों पर आर या पार की लड़ाई होगी।

उधर मेयर के शिविर में भी हड़कंप मचा था। उन्होंने भावी रणनीति तय करने के लिए अपने सभी चुनिंदा सभासद बुला भेजे थे। भैंस-स्थानांतरण का यह मूल-प्रस्ताव अक्लीचंद सभासद का था। भैंस-आंदोलन को इतना तूल देना उसे बिलकुल नहीं भा रहा था। क्या अब निरक्षर भट्टाचार्यों की जमात महानगरपालिका के प्रस्तावों को चुनौती देगी! क्या इतना बुरा जमाना आ गया है! क्या लोकतंत्र में एकता का अर्थ है कि कोई बुद्धिमानी का कदम ही न उठाया जाए! नगर का विकास रोक दिया जाए!

उसने जोरदार शब्दों में भैंसों के दुराग्रह के सामने एक इंच भी न झुकने का आवाहन किया। नगर-विकास की दुहाई दी। भैंस एकता के विरुद्ध अक्ल के इस्तेमाल की जरूरत जतायी और भैंस-आंदोलन को नेस्तनाबूद करने की कमान संभाल ली।

अक्लीचंद सभासद मेयर के भरोसेमंद बुद्धिजीवी राजनीतिज्ञ थे। राजनीति के आधुनिकतम दांव-पेंचों के ज्ञाता और प्रणेता। बिना लाठी तोड़े सांप मारने की कला में पारंगत। उन्होंने समस्या में डुबकी लगाई, उसका मंथन किया और हल निकाल लिया।

सूरज डूबने से पहले-पहले मंशाराम पहलवान अक्लीचंद के ड्राइंगरूम में थे। तले हुए चिप्स के बीच रम की गहरी चुस्की लगा रहे थे। अक्लीचंद उन्हें जी-जान से समझाने पर तुले हुए थे, पर पहलवान की समझ थी कि कुछ पकड़ ही नहीं पा रही थी। अक्लीचंद की बातें भैंस के मालिक के सिर के ऊपर से तैरकर निकले जा रही थीं। रम के आठ पैग भी पहलवान की मोटी बुद्धि को अक्लीचंद-सी बारीक और पैनी नहीं बना पाए थे।

यह नहीं था कि मंशाराम समझ नहीं रहा था, पर मरखनी से पंगा कौन ले? अक्लीचंद का क्या है। वह तो भिड़वाकर घर बैठेगा। डेरी तो पहलवान को चलानी है। फिर वह भला क्यों समझे। अक्लीचंद ने समझकर भी 'न समझने' का स्वाद कभी नहीं चखा था, जिसका आनंद वह भैंस-स्वामी रम की चुस्कियों के बीच डकार रहा था।

पस्त होते सभासद ने रामबाण छोड़ा—"क्या तुम डेरी विकास का आठ लाख का ब्याज-मुक्त लोन नहीं लेना चाहते?"

पहलवान का तीसरा नेत्र खुल गया। बुद्धि बारीक हो चली। पैनी भी। समझ भी ठीक से काम करने लगी। पहले उसने लोन की बारीकियों को समझा। मेयर की ओर से पूर्ण आश्वासन प्राप्त किया। मरखनी से उलझने के गंभीर परिणामों का खुलासा किया। और फिर कहीं जाकर अक्लीचंद की कूटनीति को हृदयंगम किया।

अक्लीचंद की योजना में धनीराम का शामिल होना भी आवश्यक था। होशियारी का भी एक महत्त्वपूर्ण रोल बनता था। सो फोन करके धनीराम को बुला भेजा गया। बुद्धि उसकी भी मोटी ही निकली—रम के दो पैग और दो लाख का लोन सिप करने के बाद ही बारीक हो सकी। बड़ी मुश्किल से उसकी समझ के द्वार खुले और योजना उसमें समा गयी।

ड्राइंग रूम से जब निकले तो तीनों के हाथ मिले हुए थे।

सुबह जब पहलवान डेरी में दुग्ध दोह रहा था तो उसने उलाहना दिया, "देख मरखनी, डेरी का नाक न कटा दीजियो। मेयर को ज्ञापन तेरा ही जाना चाहिए।"

सुनकर मरखनी सोच में पड़ गयी। वह जितनी ओजस्वी वक्ता थी, उतना ही लिखने-पढ़ने में कमजोर। दरअसल लिखने-पढ़ने का समय उसने सींगें चलाने और बेकार की बहसें करने में गंवा दिया था। उसने सुना था कि होशियारी ज्ञापन तैयार कर रही है। जब ज्ञापन तैयार ही होशियारी करेगी तो पढ़ा भी वही जायेगा। फिर पहलवान की डेरी की नाक कैसे बचेगी? उसने मौका चूके बगैर पैंतरा मारा—"लाला, अगर नाक बचानी है तो फिर हाथ बढ़ाओ। एक फर्स्ट क्लास ज्ञापन तैयार कराओ अपने मेयर के लिए।"

"मैं कब पीछे हूं। डेरी की नाक के लिए तो लाला जान भी दे देगा।" पहलवान ने तुरंत दांव समेट लिया। मंशाराम पर अक्लीचंद के लोन का खुमान जो चढ़ा था।

दोहन प्रोग्राम के तुरंत बाद ज्ञापन तैयार किया जाने लगा। डेरी की सभी भैंसों ने उत्सुकता से कान खड़े कर लिये। पहले भारी-भरकम शब्दों से संबोधन और भूमिका तैयार की गयी। सुनकर भैंसों की बांछें खिल गयीं। भैंस इतिहास में संभवतया इससे विद्वतापूर्ण ज्ञापन कभी न लिखा गया हो। मरखनी ने मन ही मन निश्चय किया कि इस ज्ञापन को मेयर को देने से पूर्व कम-से-कम तीन बार जरूर पढ़ेगी ताकि उच्चारण की शुद्धता बनी रहे। स्वामी की विद्वत्ता और लगाव से वह प्रभावित भी हुई थी और आह्लादित भी।

इसके बाद मांगपत्र का नंबर आया। मरखनी ने अपनी मांग दोहरा दी–"डेरियां शहर से बाहर स्थानांतरित नहीं होंगी।"

पहलवान ने मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा और मरखनी की ओर देखा–"और...?"

"और क्या? बस, हमारी तो एक ही मांग है, लाला।" मरखनी ने विस्मय से देखा।

"इतना बड़ा आंदोलन, इतना बढ़िया ज्ञापन। और मांग बस एक! अरे, ऐसा मौका बार-बार थोड़े ही मिलता है। मांगो तो जी भरकर मांगो। देख लेना, होशियारी के ज्ञापन में कई मांगें होंगी और उसका ज्ञापन इसी बात पर बाजी मार लेगा।" मंशाराम ने उकसाया। डेरी की भैंसों ने रंभाकर समर्थन किया।

मरखनी फिर सोचने पर मजबूर हो गयी। उसने किसी दूसरी मांग पर विचार ही नहीं किया था। हताश उसने पहलवान से पूछा–"तुम्हीं बताओ, लाला, और क्या-क्या मांगा जा सकता है?" पहलवान ने सुझाया–"क्या नहीं मांगा जा सकता। मसलन, तुम्हारे टहलने के लिए एक बड़ा उद्यान होना चाहिए। उसमें नहाने के लिए एक तालाब। जुगाली के लिए बढ़िया ताजी घास। चुहल और शरारत के लिए एक फव्वारा। और यह सब नगरपालिका के खर्चे पर, उसकी देखरेख में होना चाहिए...।"

सुनकर डेरी की भैंसों के मुंह से झाग निकल आए। मरखनी के नेत्र विस्फारित हो गए–"क्या यह सब मांगा जा सकता है?"

"अरे, मांगा जा सकता है। यह सब मिल सकता है! तुम मांगनेवाली तो बनो!" मंशाराम को लगा कि अक्लीचंद की कूटनीति का जादू सिर चढ़कर बोलने लगा है।

"तो यह सब भी मांगपत्र में जोड़ दो, लाला। देखते हैं मेयर कैसे नहीं मानता।" मरखनी ने घोषणा कर दी और अपनी साथी भैंसों को गर्व से निहारा।

डेरी की भैंसों के नथुने गर्व से फूल गए थे।

तभी गुप्त सूचना मिली कि 'होशियारी' ने भी ज्ञापन के लिए अपने मालिक धनीराम से विचार-विमर्श किया है और इन सभी मांगों के अलावा एक मांग और रखी है कि यह 'उद्यान' केवल भैंसों के लिए सुरक्षित रहेगा। इसमें मनुष्य का प्रवेश वर्जित होगा। सुनकर मरखनी मन ही मन होशियारी की बुद्धि की कायल हो गयी। पर वह इतनी आसानी से हारनेवाली नहीं थी।

उसने मंशाराम को उकसाया—"लाला, कुछ और सोचो। कुछ और जोड़ो। अब डेरी की नाक तुम्हारे हाथ में है।"

नकेल पकड़कर पहलवान ने एक मांग और जोड़ी—"इस उद्यान का नाम 'भैंस चरागाह' होगा और इसे स्कूल के लड़कों और मनुष्य के बच्चों से बचाने के लिए लंबे-चौड़े क्षेत्र में शहर से बाहर बनाया जायेगा।"

मरखनी लाला की कृतज्ञ हो उठी।

पर गुप्त सूचनाएं थीं कि आए ही चली जा रही थीं। इस बार मंशाराम के एक मित्र ने फोन से खबर दी थी। धनीराम ने होशियारी का ज्ञापन कानूनी दृष्टि से भी जंचवाया है कि कहीं मेयर कानून की आड़ लेकर सारे ज्ञापन को ही रद्द न कर दे। एक अलोकतांत्रिक मांग सारी मांगों को ही न ले डूबे और मेयर को साफ बच निकलने का मौका मिल जाए।

मरखनी चिंतातुर हो गयी। क्या सारे किए-धरे पर पानी फिर जाएगा? भैंसाली के मैदान पर भरी सभा में उसने शोर मचा-मचाकर लोकतंत्र की दुहाई दी थी। उसको अपने आंदोलन का आधार बताया था। क्या वही लोकतंत्र उसके ज्ञापन की धज्जियां उड़ा देगा! उसने दयनीय भाव से पहलवान की ओर निहारा, मानो कह रही हो—"लाला, संभालो। डेरी की नाक भी और मेरी नकेल भी।"

और पहलवान ने सचमुच नकेल संभाल ली। भरी डेरी में गरजा—"घबराने की कोई बात नहीं है, मरखनी। यह डेरी की इज्जत का सवाल है। हम बड़े-से-बड़े वकील की सलाह लेंगे और देखेंगे कि मेयर हमारा ज्ञापन कैसे रद्द करता है।" ज्ञापन नगर के सबसे बड़े एडवोकेट कानून राय चौधरी को दिखाया गया। उन्हें एक ही मांग अलोकतांत्रिक और गैरकानूनी लगी—'डेरियों को शहर से बाहर स्थानांतरण न किया जाए'। इस प्रस्ताव का विरोध महानगरपालिका में पास होने से पहले कानूनसम्मत हो सकता था, पर अब प्रस्ताव पास होकर कानून और नियम का रूप ले चुका था। अब मेयर चाहकर भी उसे नहीं बदल सकता था। उसके हाथ बंधे थे। ज्यादा जोर देने पर मेयर को मजबूरन ज्ञापन को रद्द करना पड़ेगा। इसलिए कानून की नेक सलाह थी कि यह पहली मांग ज्ञापन से निकाल दी जाए और ज्ञापन को कानूनसम्मत बना लिया जाए।

और कानून के सामने मरखनी नतमस्तक हो गयी!

मरखनी का कानूनसम्मत ज्ञापन होशियारी से बाजी मार ले गया। भरी सभा में भैंस समुदाय ने मरखनी के ज्ञापन का मसौदा सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया।

सभा जुलूस के रूप में परिवर्तित हो ज्ञापन देने निकल पड़ी। आगे-आगे मरखनी ज्ञापन लेकर चल रही थी। मंशाराम ने गेंदे के एक मन फूलों की माला से मरखनी को लाद रखा था। उसके पीछे होशियारी थी, जिसके गले में भी धनीराम ने दो मालाएं डाली थीं और उसके पीछे था समस्त भैंस समुदाय।

मेयर साहब स्वागत में दफ्तर से बाहर निकल आए। करतलध्वनि के बीच, ओजस्वी स्वर में मरखनी ने समस्त ज्ञापन शुद्ध उच्चारण में पढ़ा। सब मरखनी का लोहा मान गए। भैंस समुदाय गौरवान्वित हो उठा।

महानगर पालिका के सभी कर्मचारी और सभासद मौजूद थे। उन्होंने भैंस समुदाय को अपने हाथों से शरबत पिलवाया। इस अभूतपूर्व स्वागत की भैंसों ने कल्पना भी नहीं की थी। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। सभी बाल खड़े हो गए थे।

मेयर साहब ने अपनी साथी सभासदों से विचार-विमर्श किया। ज्ञापन की सभी मांगें उचित, कानूनसम्मत और लोकतांत्रिक थीं। भाषा के फेरबदल से वे मूल रूप से वही थीं जिनका प्रस्ताव महानगरपालिका ने पास किया था। नकराने का कोई कारण ही न बनता था। अत: उन्होंने उसी समय ज्ञापन की सभी मांगों को स्वीकार करने की घोषणा कर दी।

चारों ओर खुशी की लहर दौड़ गयी। आंदोलन की इतनी महान सफलता का आभास तो मरखनी को भी न था। वह होशियारी के गले से लिपट गयी। भैंस समुदाय की आंखों में खुशी के आंसू छलक आए थे।

दूर खड़ा अक्लीचंद मंद-मंद मुसकरा रहा था। मेयर ने उसकी बगल में जाकर एहसान से उसका हाथ दबा लिया था।

देश की भैंसें एक बार फिर अक्लीचंद से छली गयी थीं।

नृत्यांगना की स्वर्ग से वापसी

एक प्रसिद्ध सिने अभिनेत्री खिड़की से कूदकर सीधी ऊपर चली गयी। एक तो बंबई नगरी की नृत्यांगना, सिने अभिनेत्री, ऊपर से 'एक्साइज-पेड' सोमरस के खुमार से परिपूर्ण। स्वर्गलोक में सूचना आग और पानी की तरह दौड़ गयी। मेनका और रंभा जैसी नृत्यांगनाओं से ऊबी स्वर्ग-आत्माएं इस सिने अभिनेत्री के चारों ओर एकत्र हो गयीं। स्वर्ग में 'बंद' की-सी स्थिति पैदा हो गयी। जो था वहीं अपना प्रोग्राम स्थगित करके पृथ्वी की इस नयी नर्तकी को देखने निकल पड़ा था। दरअसल, काफी अरसे से स्वर्गलोक में 'अप्सरा बदलो' आंदोलन जोर पकड़ता जा रहा था। स्वर्गलोक की चिरयौवना अप्सराएं इतनी पुरानी हो चली थीं कि आत्माएं अब उनसे ऊबने लगी थीं। उनके हाव-भाव और कटाक्ष का स्टाइल अब चित्ताकर्षक नहीं रह गया था और पृथ्वीलोक के नृत्य स्टाइल और नर्तकी इंपोर्ट करने की मांग दिन-ब-दिन जोर पकड़ रही थी और ऐसे ही समय यह अजूबा कि हिंदुस्तान के सिने जगत की कोई ख्यातिनामा नृत्यांगना अपने पूर्ण यौवनकाल में स्वयं कूद कर इंद्रलोक चली आ रही हो। भीड़ तो जुटनी ही थी।

राजा इंद्र का सिंहासन भी डोल गया। सब कुछ परंपरा के विपरीत हो रहा था। एक जीवात्मा का स्वर्गलोक में इतना अभूतपूर्व स्वागत। वह भी यह निर्णय होने से पूर्व कि यह जीवात्मा स्वर्गवासी रहेगी या नरकवासी। स्वर्ग का सारा विधि-विधान चौपट होने जा रहा था। उन्होंने खतरे की घंटी बजा दी।

यमराज मय चित्रगुप्त के उपस्थित हुए। आदेश हुआ-"इस नृत्यांगना के लेखे-जोखे पर तुरंत निर्णय लिया जाए।"

"किंतु उससे पहले आयी हुई जीवात्माएं अभी पंक्तिबद्ध अपने निर्णय की प्रतीक्षा में हैं। इस नृत्यांगना का नंबर आने में अभी कुछ विलंब होगा।" चित्रगुप्त ने नियमानुसार प्रतिवाद किया।

"कोई विलंब नहीं। यह 'इमरजेंसी' है। इस नर्तकी पर तुरंत निर्णय लो। चित्रगुप्त, आजकल तुम बहुत सुस्त होते जा रहे हो।" हिलते सिंहासन से बौखलाए इंद्रराज ने पुनः व्यवस्था दी।

चित्रगुप्त एवं दंडाधिकारी अपने काम में जुट गए।

उधर भूलोक से स्थानांतरित होकर सिने अभिनेत्री ने जो आंखें खोलीं तो अपने को दढ़ियलों, जटाधारियों, तिलकधारियों, वल्कल एवं गेहुएं वस्त्रधारियों की भीड़ से घिरा पाया। सिने तारिका को लगा कि वह भ्रम से किसी पौराणिक फिल्म के सेट पर आ गयी है। वह अभी तक कूद लगाते समय की आधुनिकतम डांस-ड्रेस से सुसज्जित थी, जो बैकुंठवासी भीड़ के लिए अत्यंत कौतूहल का विषय थी।

"लगता है भूलोक में काफी तरक्की हुई है।" भीड़ में से एक मोक्ष-प्राप्त जटाधारी संन्यासी बोले।

"इस लोक के द्वार तो इस तरह से सील कर दिए हैं कि नयी हवा का झोंका तक यहां नहीं आ पाता।" दूसरे दढ़ियल ने शिकवा किया।

"मैं तो अब पछता रहा हूं कि मैंने इतनी लंबी तपस्या क्यों की।" यह महानुभाव पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर चुके थे।

"आप लोग अपने 'डायलॉग ग्रीनरूम' में जाकर क्यों नहीं याद करते!" कहकर नृत्यांगना ने मादक अंगड़ाई तोड़ी। भूलोक के सोमरस के पांच पैग का प्रभाव इस समय पराकाष्ठा पर था।

"वाह-वाह! क्या बात है!" भीड़ के मुंह से बरबस निकल पड़ा था, "मेनका, रंभा और उर्वशी में यह बात कहां!"

"आउटडेटेड हो गयी हैं स्वर्ग की सब अप्सराएं।"

"इन्हें अब रिटायर कर देना चाहिए।" भीड़ थी कि जिसके मुंह में जो आ रहा था, बके जा रहा था।

सूचना नृत्यागार में भी पहुंच चुकी थी। उत्सुकता सभी विशिष्ट नृत्यांगनाओं को भीड़ में खींच लायी थी। रंभा ने तो अपना निर्धारित नृत्य-कार्यक्रम ही स्थगित कर दिया था। न भी करती तो और क्या करती। सभी दर्शक पहले ही भीड़ में जा चुके थे। अप्सराओं के लिए भूलोक के इस प्रतिद्वंद्वी को देखना-समझना अत्यंत आवश्यक था जिसने उनके अमर एवं अक्षत एकाधिकार को चुनौती दे डाली थी।

क्रम-नियम भंग करके चित्रगुप्त ने अब तक सिने-अभिनेत्री का कर्म-लेखा बांच लिया था। वैसे भी बाईस साल का लेखा बांचने में अधिक समय नहीं लगना था। दंडाधिकारी को निर्णय देने में लेशमात्र भी विलंब या संकोच नहीं हुआ-"नरकवासी भव।"

लेकिन इस निर्णय से स्वर्गलोक में भूचाल आ गया। ऋषि-मुनियों ने इसे दुराग्रह कहा। मोक्षप्राप्त यूनियन ने तो प्रतिवेदन याचिका दायर कर दी। विशेषाधिकार से सुनवाई भी इंद्रसभा में तुरंत ही की गयी। अपनी तरह का यह

पहला मुकदमा था जिसमें स्वर्गलोक का जनमत विधानसम्मत निर्णय के विरुद्ध भूलोक की जीवात्मा को नरक भेजने के स्थान पर अपने बीच स्वर्ग में निवास कराना चाहता था।

सभा में चित्रगुप्त ने न्यायाधिकारी का पक्ष प्रस्तुत किया—"इस नृत्यांगना ने भूलोक में कोई ऐसा पुण्य कर्म नहीं किया, जिससे उसे एक पल भी स्वर्ग में रखा जा सके।"

प्रत्यावेदक की ओर से महर्षि विश्वामित्र ने कमान संभाली थी, "क्यों, क्या उसने भूलोक की जनता को रिझाया या लुभाया नहीं?"

"रिझाना और लुभाना हमारे विधान में पुण्य कर्म नहीं है, पाप कर्म है ऋषिवर!"

"यहां अप्सराएं दिन-रात स्वर्गवासियों को अपने नृत्य से, भाव-भंगिमाओं से रिझाती-लुभाती रहती हैं। इसे आप क्या कहेंगे—पाप या पुण्य?"

"महर्षि को जानना चाहिए कि स्वर्ग का विधान और है, और भूलोक का और। स्वर्ग के विधान को भूलोक पर लागू नहीं किया जा सकता।"

"यह तो सरासर अन्याय है। असमानता है। असंवैधानिक है। ऐसे संविधान को तुरंत बदल देना चाहिए।"

भरी इंद्रसभा में 'शेम-शेम' के नारे गूंजने लगे। इंद्रराज बड़े असमंजस में पड़ गए। पहली बार उनके लोक में जनमत ने आदिकालीन विधि-विधान को खुली चुनौती दी थी। वह भी सोचने पर विवश हो चले थे कि क्या उनका दीर्घकालिक परंपरागत विधि-विधान 'आउट ऑफ डेट' हो चला था। किंतु इस समय आवश्यकता थी तुरंत निर्णय की, व्यवस्था की। इस आपत्ति से उबरने की। देरी या गलत कदम उनके सिंहासन को भी उलट सकता था। अनेक पौराणिक देवता ऐसे थे जो इस मौके के लिए कब से दांत गड़ाए बैठे थे।

इंद्र के मानसिक द्वंद्व पर विश्वामित्र ने एक कुशल अभिवक्ता की तरह निर्णायक प्रहार किया—"यदि आपके नियम भू-लोक की नर्तकी को यहां रोकने में आड़े आते हैं तो फिर हमें ही नरक में स्थानांतरित कर दिया जाए। स्वर्ग से हम अब ऊब चले हैं। हम स्वेच्छा से लिखित आवेदन करने को तैयार हैं।"

"लेकिन विधानानुसार यह भी कहां संभव है। स्वर्ग और नरक का स्थानांतरण कर्मों पर निर्भर करता है।" चित्रगुप्त ने फिर विधि-विधान की व्यवस्थाएं स्पष्ट कीं।

विश्वामित्र क्रोध से आगबबूला हो गए। ऋषि-तेज मुखमंडल पर झलक आया। पैर पटककर बोले, "तो ऐसे विधि-विधान में आग लगा दो! हमें बताया गया था कि मोक्ष प्राप्त कर हम पूर्ण स्वतंत्र हैं। अपनी इच्छा के स्वामी! स्वच्छन्द! लेकिन लगता है हमारे साथ धोखा किया गया है। हम तो यहां पर

कैदी हैं। अपनी इच्छा से स्वर्ग के परकोटे से बाहर भी नहीं निकल सकते। यह मोक्ष है या सजा!"

बहस बढ़ती देख राजा इंद्र ने व्यवस्था दी, "दोनों पक्षों को सुन लिया गया है। कल भरी सभा में निर्णय सुनाया जाएगा।" और सभा भंग कर दी।

भारी मन से इंद्रराज अंत:पुर में शैया पर लुढ़क गए। आज ड्यूटी पर रंभा थी। स्वामी को अन्यमनस्क पा सोमरस का पात्र भर दिया। चित्ताकर्षक मुद्राएं दिखायीं। छेड़खानी की। ठिठोली की। पर इंद्र का मन था कि बहका ही नहीं। क्या सचमुच स्वर्ग की अप्सराएं कालांतर में आकर्षणविहीन हो गयी हैं? पर वे तो चिरयौवनाएं हैं। अक्षत सौंदर्य-स्वामिनी। ऐसा कैसे हो सकता है?

संकट की इस घड़ी में स्वभावानुसार इंद्रराज को ब्रह्मा जी का स्मरण हो आया। हो-न हो, अब ब्रह्मा जी ही इस घोर संकट से उसे उबार सकते हैं। तुरंत अंग-वस्त्र डाला और उड़ चले।

ब्रह्माजी तो सर्वव्यापी और सर्वज्ञानी हैं। वह सारे संकट को न केवल देख रहे थे वरन् उस पर मनन भी कर रहे थे। इंद्र को देखकर बोले, "वत्स, इस बार बुरे फंसे हो।"

इंद्रराज दंडवत हो गए। विनयपूर्वक बोले, "भगवन, इस संकट से बचाओ। मुझे तो कुछ सूझ ही नहीं रहा है।"

ब्रह्माजी ने धीर गंभीरता से समझाया, "मैं तुम्हारी समस्या पर ही विचार कर रहा था। मैंने दुनिया देखी है। तुम्हें यह संकट इसलिए लग रहा है कि ऐसी समस्या तुम्हारे सामने, तुम्हारे राज्य में पहली बार उठी है। मृत्युलोक के प्राणी तो ऐसी समस्याओं के अभ्यस्त हैं। वहां तो जनहित, जन-भावना और जनमत अकसर ही उनके विधान से टकराता रहता है। वे सुविधा और मौका देखकर कभी विधान में संशोधन कर लेते हैं और कभी जनता को बहका देते हैं। अकेले भारतवर्ष ने अपने संविधान में अस्सी के लगभग संशोधन किए हैं। वहां के शासक ऐसे संकटों से निपटना खूब जानते हैं। इसमें शक नहीं कि राजनीतिक मामलों में भू-लोकवासी समस्त ब्रह्मांड में सबसे निपुण हैं।"

"फिर मैं क्या करूं, भगवन? क्या एक मृतात्मा के लिए विधि-विधान बदल दूं? भूलोक की तरह उसे मैं भी संशोधित कर दूं।"

ब्रह्माजी इंद्र की आतुरता पर मुसकराए, "मैंने यह तो नहीं कहा, वत्स!"

"तब मेरे लिए क्या आज्ञा है, प्रभो! इस संकट की घड़ी में मेरा मार्गदर्शन कीजिए।"

"तुम भूलोकवासियों से कुछ सीखो। तुम्हारी समस्या भूलोक जैसी है, अत: वहीं के हथकंडे अपनाओ। न जल्दबाजी में विधान में संशोधन करो और न

पहला मुकदमा था जिसमें स्वर्गलोक का जनमत विधानसम्मत निर्णय के विरुद्ध भूलोक की जीवात्मा को नरक भेजने के स्थान पर अपने बीच स्वर्ग में निवास कराना चाहता था।

सभा में चित्रगुप्त ने न्यायाधिकारी का पक्ष प्रस्तुत किया–"इस नृत्यांगना ने भूलोक में कोई ऐसा पुण्य कर्म नहीं किया, जिससे उसे एक पल भी स्वर्ग में रखा जा सके।"

प्रत्यावेदक की ओर से महर्षि विश्वामित्र ने कमान संभाली थी, "क्यों, क्या उसने भूलोक की जनता को रिझाया या लुभाया नहीं?"

"रिझाना और लुभाना हमारे विधान में पुण्य कर्म नहीं है, पाप कर्म है ऋषिवर!"

"यहां अप्सराएं दिन-रात स्वर्गवासियों को अपने नृत्य से, भाव-भंगिमाओं से रिझाती-लुभाती रहती हैं। इसे आप क्या कहेंगे–पाप या पुण्य?"

"महर्षि को जानना चाहिए कि स्वर्ग का विधान और है, और भूलोक का और। स्वर्ग के विधान को भूलोक पर लागू नहीं किया जा सकता।"

"यह तो सरासर अन्याय है। असमानता है। असंवैधानिक है। ऐसे संविधान को तुरंत बदल देना चाहिए।"

भरी इंद्रसभा में 'शेम-शेम' के नारे गूंजने लगे। इंद्रराज बड़े असंमजस में पड़ गए। पहली बार उनके लोक में जनमत ने आदिकालीन विधि-विधान को खुली चुनौती दी थी। वह भी सोचने पर विवश हो चले थे कि क्या उनका दीर्घकालिक परंपरागत विधि-विधान 'आउट ऑफ डेट' हो चला था। किंतु इस समय आवश्यकता थी तुरंत निर्णय की, व्यवस्था की। इस आपत्ति से उबरने की। देरी या गलत कदम उनके सिंहासन को भी उलट सकता था। अनेक पौराणिक देवता ऐसे थे जो इस मौके के लिए कब से दांत गड़ाए बैठे थे।

इंद्र के मानसिक द्वंद्व पर विश्वामित्र ने एक कुशल अभिवक्ता की तरह निर्णायक प्रहार किया–"यदि आपके नियम भू-लोक की नर्तकी को यहां रोकने में आड़े आते हैं तो फिर हमें ही नरक में स्थानांतरित कर दिया जाए। स्वर्ग से हम अब ऊब चले हैं। हम स्वेच्छा से लिखित आवेदन करने को तैयार हैं।"

"लेकिन विधानानुसार यह भी कहां संभव है। स्वर्ग और नरक का स्थानांतरण कर्मों पर निर्भर करता है।" चित्रगुप्त ने फिर विधि-विधान की व्यवस्थाएं स्पष्ट कीं।

विश्वामित्र क्रोध से आगबबूला हो गए। ऋषि-तेज मुखमंडल पर झलक आया। पैर पटककर बोले, "तो ऐसे विधि-विधान में आग लगा दो! हमें बताया गया था कि मोक्ष प्राप्त कर हम पूर्ण स्वतंत्र हैं। अपनी इच्छा के स्वामी! स्वच्छन्द! लेकिन लगता है हमारे साथ धोखा किया गया है। हम तो यहां पर

कैदी हैं। अपनी इच्छा से स्वर्ग के परकोटे से बाहर भी नहीं निकल सकते। यह मोक्ष है या सजा!"

बहस बढ़ती देख राजा इंद्र ने व्यवस्था दी, "दोनों पक्षों को सुन लिया गया है। कल भरी सभा में निर्णय सुनाया जाएगा।" और सभा भंग कर दी।

भारी मन से इंद्रराज अंत:पुर में शैया पर लुढ़क गए। आज ड्यूटी पर रंभा थी। स्वामी को अन्यमनस्क पा सोमरस का पात्र भर दिया। चित्ताकर्षक मुद्राएं दिखायीं। छेड़खानी की। ठिठोली की। पर इंद्र का मन था कि बहका ही नहीं। क्या सचमुच स्वर्ग की अप्सराएं कालांतर में आकर्षणविहीन हो गयी हैं? पर वे तो चिरयौवनाएं हैं। अक्षत सौंदर्य-स्वामिनी। ऐसा कैसे हो सकता है?

संकट की इस घड़ी में स्वभावानुसार इंद्रराज को ब्रह्मा जी का स्मरण हो आया। हो-न हो, अब ब्रह्मा जी ही इस घोर संकट से उसे उबार सकते हैं। तुरंत अंग-वस्त्र डाला और उड़ चले।

ब्रह्माजी तो सर्वव्यापी और सर्वज्ञानी हैं। वह सारे संकट को न केवल देख रहे थे वरन् उस पर मनन भी कर रहे थे। इंद्र को देखकर बोले, "वत्स, इस बार बुरे फंसे हो।"

इंद्रराज दंडवत हो गए। विनयपूर्वक बोले, "भगवन, इस संकट से बचाओ। मुझे तो कुछ सूझ ही नहीं रहा है।"

ब्रह्माजी ने धीर गंभीरता से समझाया, "मैं तुम्हारी समस्या पर ही विचार कर रहा था। मैंने दुनिया देखी है। तुम्हें यह संकट इसलिए लग रहा है कि ऐसी समस्या तुम्हारे सामने, तुम्हारे राज्य में पहली बार उठी है। मृत्युलोक के प्राणी तो ऐसी समस्याओं के अभ्यस्त हैं। वहां तो जनहित, जन-भावना और जनमत अकसर ही उनके विधान से टकराता रहता है। वे सुविधा और मौका देखकर कभी विधान में संशोधन कर लेते हैं और कभी जनता को बहका देते हैं। अकेले भारतवर्ष ने अपने संविधान में अस्सी के लगभग संशोधन किए हैं। वहां के शासक ऐसे संकटों से निपटना खूब जानते हैं। इसमें शक नहीं कि राजनीतिक मामलों में भू-लोकवासी समस्त ब्रह्मांड में सबसे निपुण हैं।"

"फिर मैं क्या करूं, भगवन? क्या एक मृतात्मा के लिए विधि-विधान बदल दूं? भूलोक की तरह उसे मैं भी संशोधित कर दूं।"

ब्रह्माजी इंद्र की आतुरता पर मुसकराए, "मैंने यह तो नहीं कहा, वत्स!"

"तब मेरे लिए क्या आज्ञा है, प्रभो! इस संकट की घड़ी में मेरा मार्गदर्शन कीजिए।"

"तुम भूलोकवासियों से कुछ सीखो। तुम्हारी समस्या भूलोक जैसी है, अत: वहीं के हथकंडे अपनाओ। न जल्दबाजी में विधान में संशोधन करो और न

जनता की आवाज को स्वीकारो। विधान बदलने का नाटक करो और जनमत का ध्यान बंटा दो। यानी सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।''

गुरु-मंत्र पाकर इंद्रराज प्रसन्नचित्त लौट आए। ब्रह्माजी ने हमेशा उन्हें आड़े वक्त में उबारा था। लौटते ही उन्होंने आदेश दिया, "रंभा, हमारा गिलास सोमरस से भर दो और आज अपना बेहतरीन 'रंभा-दंभा' नृत्य दिखाओ।''

खचाखच भरी सभा में इंद्रराज ने निर्णय सुनाया-''जनमत का आदर करते हुए स्वर्ग के विधि-विधान में संशोधन हेतु एक आयोग का गठन किया जाता है, जो कि दो कल्प में अपनी आख्या देगा। इसी बीच वर्तमान विधि-विधान की मर्यादाओं का उल्लंघन न करते हुए जीवात्मा भूलोक की नर्तकी की नृत्य सेवाओं को स्वर्ग के नृत्यागार के लिए उपलब्ध कराया जायेगा। इसके लिए उससे एक दीर्घकालिक अनुबंध किया जायेगा।'' तालियों की गड़गड़ाहट से सभी ने निर्णय का स्वागत किया।

इंद्र ने गर्वित विजेता की मोहक मुसकान के साथ चारों ओर देखा। उन्हें आंतरिक संतोष एवं सुख मिल रहा था।

किंतु चित्रगुप्त अपने स्वभाव से मजबूर थे। उन्होंने शंका प्रस्तुत की, "स्वामी, विधानानुसार पृथ्वी की किसी जीवात्मा को स्वर्गलोक में सेवाएं देने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। यदि यह नृत्यांगना अपनी नृत्य सेवाएं इस लोक के लिए देने को स्वेच्छा से तत्पर न हुई तो इस राज्याज्ञा में विघ्न पड़ सकता है।''

जनसभा पर जैसे वज्राघात हुआ। राजा इंद्र सोच में डूब गए। चित्रगुप्त का विधान था कि बार-बार आड़े आ रहा था।

युक्ति विश्वामित्र ने सुझायी-"हम प्रलोभन तो दे सकते हैं। प्रलोभन के विरुद्ध तो तुम्हारा विधान कुछ नहीं कहता, चित्रगुप्त!"

महर्षि स्वयं प्रलोभन के मारे हुए थे। यहां उनका पूर्वानुभव काम आ गया। इंद्रराज को राह मिल गयी। पुनः आदेश प्रसारित किया, "भू-नर्तकी की सेवाएं प्राप्त करने और उससे उचित अनुबंध करने के लिए मेरी अध्यक्षता में एक उपसमिति का गठन किया जाता है जिसमें जनभावना के प्रतिनिधि के रूप में महर्षि विश्वामित्र और विधान की मर्यादाओं की रक्षा-हेतु चित्रगुप्त सहयोग करेंगे।''

स्वर्गलोकवासियों ने भी अपनी ओर से अपने दायित्व की पूर्ति की। एक शिष्टमंडल लेकर भू-नर्तकी से अनुरोध करने अतिथिगृह में पहुंच गए-"देवी, हम सभी चाहते हैं कि आप स्वर्ग में ही रहें।"

"जी, वह तो अब रहना ही होगा।'' मृतात्मा ने सहज स्वभाव उत्तर दिया। वह सारे हालात से अनभिज्ञ थी।

शिष्टमंडल सिने अभिनेत्री के इस सहज भोलेपन पर मर मिटा–"आप धन्य हैं, देवी! आपने हमारी बात मान ली।"

"वह तो अब माननी ही पड़ेगी। मैं मर जो चुकी हूं।" जीवात्मा को अपनी विवशता का आभास था।

शिष्टमंडल के सदस्यों की टिप्पणियां इस प्रकार थीं–"देवी, हमारे लोक में कोई विवश नहीं है, सब पूर्ण स्वतंत्र हैं। कल स्वयं राजा इंद्र, चित्रगुप्त एवं महर्षि विश्वामित्र देवी से नृत्य कला की सेवाएं प्राप्त करने हेतु वार्ता करेंगे।"

"हम तो देवी का पूर्व आश्वासन चाहते थे, जो हमें मिल गया।"

"हमें ज्ञात हुआ है, देवी भूलोक के चलचित्र जगत की नवीनतम नृत्य-कलाओं में प्रवीण एवं पारंगत हैं।"

"हमें विश्वास है कि देवी की नवीन नृत्य कला स्वर्ग के नृत्यागार में नया जीवन डाल देगी। चार चांद लगा देगी।"

बातें अब भू-नर्तकी की कुछ-कुछ समझ में आने लगी थीं। अतः चतुर सिने अभिनेत्री उसी भाव से राजा इंद्र से वार्ता की प्रतीक्षा करने लगी, जिस भाव से वह बंबई के नये फिल्म प्रोड्यूसर से वार्ता करती थी।

राजा इंद्र का बुलावा भी जल्दी ही आ गया। भव्य वार्तागृह में राजा इंद्र के अतिरिक्त महर्षि विश्वामित्र और चित्रगुप्त भी उपस्थित थे। नृत्यांगना के स्थान ग्रहण कर लेने पर देवराज ने गंभीर स्वर में कहा–"हम स्वर्गलोक की नृत्यशाला के लिए आपकी नृत्य-सेवाएं चाहते हैं।"

"इसे मैं आदेश समझूं या अनुरोध?" भू-नर्तकी ने फिल्मी डॉयलॉग मारा।

"इसे आप प्रस्ताव समझें, देवी।" विश्वामित्र ने स्पष्ट किया।

"क्या मैं जान सकती हूं कि इसके बदले मुझे क्या मिलेगा?"

"देवी क्या चाहती हैं?" राजा इंद्र ने सीधा प्रश्न किया।

सिने अभिनेत्री सोचने लगी। स्वर्ग के रीति-रिवाजों से उसका पूर्व परिचय नहीं था। उसे शंका हुई कि कहीं कम न मांग ले, अतः उसने पूरा मुंह खोल दिया, "दस अरब स्वर्ण मुद्राएं।"

वार्तागृह में सभी ने विस्मय से एक-दूसरे को देखा। चित्रगुप्त ने मौन तोड़ा–"हमारे लोक में मुद्राओं का प्रचलन नहीं है, देवि!"

"फिर किस का प्रचलन है?"

"सुख-सुविधाओं, आमोद-प्रमोद, शांति एवं आनंद का साम्राज्य है स्वर्ग पर। इनमें से कुछ मांगो, देवि!" महर्षि ने समझाया।

"यह सब तो मुद्राओं के बदले मिलता है बंबई में। प्रश्न यह है कि इनकी मात्रा कितनी होगी?"

"यहां मात्रा का भी कोई भेदभाव नहीं है। यहां प्रत्येक वासी समान रूप से सभी सुविधाओं और आनंद का उपभोग करता है।" चित्रगुप्त ने स्वर्ग की व्यवस्था का खुलासा किया।

"फिर आप मुझे विशेष दे ही क्या सकते हैं। सभी कुछ तो कॉमन है आपके यहां। मैं तो बहुत जल्दी ऊब जाऊंगी यहां पर।" दीर्घासन पर घुटने समेटकर भू-नर्तकी ने मुद्रा बदली।

राजा इंद्र सोच में डूब गए। सिने अभिनेत्री विशिष्ट चाहती हैं स्वर्ग में। पृथ्वी पर साधारण नागरिक होने का कटु अनुभव उन्हें सावधान किए हुए है शायद।

उन्होंने प्रस्ताव किया—"हम आपको राज्य नर्तकी पद से सुशोभित करेंगे।" और विश्वामित्र की ओर देखा। मानो महर्षि को जता रहे हों कि देखा हमने एकदम कितना बड़ा प्रलोभन दे दिया।

लेकिन सिने अभिनेत्री को मात्र यह प्रलोभन न लुभा सका। बोली—"इस पद के अतिरिक्त और क्या? मात्र राज्य अलंकरण और पदवियां तो दिखावटी और थोथी होती हैं। इनमें कोई जान नहीं होती। मुझे तो साथ में कोई ठोस बात बताइए। पृथ्वी हो या स्वर्ग, मैं अब साधारण जीवन नहीं जी सकती।"

सुनकर इंद्रराज को बुरा लगा। विश्वामित्र को भी ठेस पहुंची। सहस्रों 'कल्प' स्वर्ग में निवास करते हुए भी महर्षि आज तक स्वर्ग के साधारण नागरिक ही जाने-माने जाते थे और यह कल की छोकरी नर्तकी राज्य नर्तकी के पद को भी ठोस नहीं मान रही थी। संभवतया पृथ्वी के वातावरण ने उसके मस्तिष्क को दूषित और कलुषित किया हुआ था। फिर भी उन्होंने धीरज नहीं खोया। जनसमुदाय को आश्वासन जो दिया हुआ था।

पूछा—"देवी और ठोस क्या चाहती हैं?"

सिने अभिनेत्री ने सोचा—अब चूक गयी तो फिर पछताना होगा। बंबई के फिल्म प्रोड्यूसरों का उसे पर्याप्त अनुभव था। जो शर्त खुलासा नहीं होती, बाद में उसी पर ठेंगा दिखा देते हैं।

अतः उसने मुद्रा बदलकर अपनी शर्त गिनानी प्रारंभ की—

"मुझे स्वर्ग के राजा के समान ही रहन-सहन की सभी सुख-सुविधाएं उपलब्ध होंगी। नृत्य-प्रस्तुति मैं अपनी इच्छा और अपनी सुविधानुसार जब चाहूंगी और जितना चाहूंगी, करूंगी। हर नृत्य-प्रस्तुति की विडियो कैसेट तैयार की जाएगी, जिस पर मेरा एकाधिकार होगा। यह विडियो कैसेट भूलोक एवं अन्य मंडलों पर भी दिखाई जाएगी और इससे प्राप्त समस्त शुल्क मेरे खाते में जमा होगा। स्वर्गलोक में भी विडियो कैसेट पर शुल्क लिया जाएगा, जिसका पूर्ण स्वामित्व मेरा होगा। यह अनुबंध लिखित होगा और मात्र पांच वर्ष के लिए

होगा। इसके बाद नयी शर्तों पर नया अनुबंध किया जा सकेगा, जो पूर्णतया मेरी शर्तों पर और मेरी इच्छानुसार ही होगा।"

सुनकर सभी अवाक् रह गए।

स्वर्ग के विधि-विधान एवं परंपरानुसार इनमें से एक भी शर्त व्यावहारिक एवं स्वीकार्य नहीं हो सकती थी। इंद्रराज निराशा में डूब गए। विधानानुसार आदेश देकर वह इस मृतात्मा को विवश नहीं कर सकते थे। महर्षि को लगा कि पृथ्वी के पर्यावरण से इस नृत्यबाला का दिल और दिमाग दूषित हो चुका है। उन्हें पहली बार संशय हुआ कि कहीं उसकी ये पृथ्वीजन्य बीमारियां उनके लोक में न फैल जाएं।

चित्रगुप्त ने एक अंतिम कोशिश फिर की, "देवि, आपकी शर्तें इस स्वर्ग-लोक में मान्य नहीं हैं। आपको अपनी शर्तों का त्याग कर स्वामी द्वारा प्रस्तावित राज्य नर्तकी का पद स्वीकार कर लेना चाहिए। इस विशिष्ट पद में हमारे लोक में विशिष्ट सुविधाएं निहित हैं।"

यह सिने अभिनेत्री कई बार प्रारंभ में, बंबई के प्रोड्यूसरों के इसी प्रकार के बहकावों से छली गयी थी। बाद में उसने सचेत होकर उनसे निपटना सीख लिया था। मोल-भाव में थोड़ा अड़े रहना ठीक रहता है। बाद को सुख मिलता है। अत: अपने पूर्व-अनुभवानुसार वह अड़ गयी—"इससे कम में तो मेरा काम नहीं चल सकेगा, चित्रगुप्त जी!"

तीनों स्वर्गात्माओं ने हताशा से एक-दूसरे को निहारा। फिर मंत्रणा कक्ष में जाकर विचार-विमर्श किया। जनभावना के प्रतिनिधि विश्वामित्र भी यह मान रहे थे कि यह मृतात्मा गंभीर रूप से 'अहम' रोग से पीड़ित है और यह छुआछूत फैलाने वाला रोग समूचे स्वर्गलोक के लिए घातक सिद्ध होगा। अत: उन्होंने भी राजा इंद्र और चित्रगुप्त से एकमत होते हुए हथियार डाल दिए। सिने अभिनेत्री भू-नृत्यांगना की नवीन चित्ताकर्षक नृत्य-कला का प्रलोभन त्याग दिया।

वार्ता-कक्ष की उच्च स्तरीय वार्ता भंग हो गयी। इंद्रराज ने दंडाधिकारी को आदेश दिए, "भू-नर्तकी को विधानानुसार तुरंत नया जन्म देकर पुनः भूलोक पर वापस भेज दिया जाए।" इस आदेश के लिए इंद्रराज को किसी प्रकार की कोई विवशता नहीं थी।

स्कूटर कब लुटा?

भारतवर्ष के 'बी' और 'सी' क्लास शहरों में मध्यवर्गीय परिवारों की गतिशीलता स्कूटरों पर निर्भर करती है। इस वाक्य पर आप जितना मनन करेंगे, उतना ही इसकी सच्चाई से प्रभावित होते चले जाएंगे। स्कूटरों के हर 'मेक' और 'ब्रांड' की दिन-रात बढ़ती कीमतें और इनकी निर्माता कंपनियों के शेयरों का चढ़ता बाजार मेरे कथन का प्रामाणिक थर्मामीटर है। कुछ भी हो, मैं अपने परिवार के सभी बुजुर्गों सहित, अपनी श्रीमती जी को भी यह समझाने में सफलता प्राप्त कर चुका था कि स्कूटर अब मेरे लिए फिजूलखर्ची न होकर एक आवश्यकता है, जिससे मेरे जीवन में गति आ सकती है और उनकी फरमाइशें महीनों के स्थान पर कुछ ही दिनों में पूरी की जा सकती हैं। और यही कारण था कि पिताश्री के पी० एफ०, श्रीमती जी के गहने, मां की अल्पबचत और अपना एक साल का सिगरेटकट जोड़कर मैं पिछले हफ्ते एक चमचमाता स्कूटर ले आया था।

इस नव-आगन्तुक स्कूटर ने मेरे जीवन को अधिक गतिशील बनाने के साथ-साथ उसे नियमित भी कर दिया था। रोज सुबह सात बजे मैं अपने स्कूटर को नहलाता-धुलाता था और सांय सात बजे के बाद उसकी एक वैट ड्राई क्लीनिंग करके परिचित सर्किल में उसे घुमाने निकलता था। हमारा देश आज भी जिन बहुत-सी बातों में पिछड़ा हुआ है, उनमें एक यह भी है कि यहां किसी परिवार में नया स्कूटर आ जाने की सूचना-प्रेषण का कोई सही और सटीक उपाय नहीं है। हमारी सरकार दूर-संचार मंत्रालय पर कितना भारी खर्चा कर रही है लेकिन उसने भी अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया है। अतः अपने नये स्कूटर के प्रचार के लिए मुझे अपने ही प्रयत्नों पर निर्भर रहना पड़ रहा था।

मेरे सौंदर्यबोध ने मुझे चेता दिया था कि नये स्कूटर पर पुराने कपड़े नहीं फबते। ऐसा लगता है कि बैठनेवाला स्कूटर कहीं से मांगकर लाया है। इसलिए कुछ दोस्तों से उधार लेकर मैंने दो नयी ड्रेसें भी बनवा ली थीं और अब कुटुंबियों, परिचितों और दोस्तों से ठाट से मिलने का क्रम निर्बाध-गति से

सम्पन्न हो रहा था। धूल से अटे औपचारिक निमंत्रण भी झाड़-पोंछकर चमकाए जा रहे थे और मुरझाए-संबंधों की जड़ों में पानी देकर उन्हें हरा किया जा रहा था।

संबंधों के नवीनीकरण का यह क्रम अभी इसी प्रकार कुछ हफ्ते तक चलते रहना था अगर बीच में ही एक दुर्घटना न घट गई होती।

हुआ यों कि सात बजते-बजते मैं उसी शान-शौकत से शास्त्रीनगर-निवासी एक्साइज इंस्पेक्टर गौतम शर्मा से संबंध उजालने निकल पड़ा था। चार माह पूर्व उन्होंने कस्टम से पकड़ी एक ह्विस्की की बोतल प्रेजेंट की थी। ह्विस्की की बोतल वह जिस सूटकेस में ढांपकर लाए थे वह सूटकेस उनकी धरोहर के रूप में अभी तक मेरे पास ही विराजता था। इससे पूर्व स्कूटर न होने के कारण मैं उनकी धरोहर लौटा न सका था। लेकिन अब मेरे पास अपना नया स्कूटर था, सो धरोहर को और अधिक रोकने का मेरे पास न कोई बहाना था और न ही कोई औचित्य। अतः मित्र का सूटकेस लादकर मैं शास्त्रीनगर की ओर प्रस्थान कर रहा था।

मैं यह तो नहीं कह सकता कि दुर्घटना को किसने आकर्षित किया था : उस सूटकेस ने, चमचमाते नये स्कूटर ने, मेरी नयी ड्रेस ने या तीनों ने; लेकिन सिविल लाइंस का चौराहा निकलते-निकलते सामने से एक मोटर साइकिल पर दो सवार तेजी से मेरे पास आकर रुके और उनमें से पिछले सवार ने बड़ी फुर्ती से अपनी मुट्ठी से मेरी आंखों की ओर कुछ फेंका। मेरी आंखें बंद हो गयीं। स्कूटर का हैंडिल लड़खड़ाया और मैं घबराकर स्कूटर रोक उससे उतर गया। आंखें जलने लगी थीं और आभास हो गया था कि फेंका हुआ द्रव्य धूल या मिट्टी नहीं, मिरच थी, पिसी हुई लाल मिरचें। मैंने कमीज की कोहनी से आंखें पोंछते हुए दूसरे हाथ से जेब से रूमाल निकाला। तभी मेरी चेतना से स्कूटर के स्टार्ट होने का स्वर टकराया। जलती आंखों को कोशिश करके खोला तो देखा कि वही मिरच झोंकने वाला सवार मेरे स्कूटर पर बैठा उसे विपरीत दिशा में मोटर साइकिल सवार के साथ भगाए लिये जा रहा था। मिरचों की जलन भूल मैं भी सुनसान सड़क पर चिल्लाता हुआ उनके पीछे भागा, लेकिन स्कूटर और आदमी की दौड़ में आदमी भला कब जीत सका है। लगभग आधा फर्लांग भागकर मैं हांफने लगा था और स्कूटर नजरों से ओझल हो गया था। आंखों में जलन हावी होने लगी थी और हालांकि मैं अनेक बार आंखें पोंछ चुका था, मुझे तुरंत पानी की दरकार थी।

दुर्घटना के इन कुछ क्षणों में मेरे मुंह से चिल्लाहट में क्या-क्या निकला था, इसका मेरी चेतना को ज्ञान नहीं था। लेकिन लगातार शोर सुनकर उस कम चलने वाली सड़क पर भी कुछ लोग मेरे पास आ गए थे जिन्होंने मुझे पास

के ही एक नल पर ले जाकर मेरी आंखें धुलवाई थीं, जो सूजकर मोटी और लाल हो गयी थीं। जलन में कमी आने पर मुझे आभास हुआ कि मेरा इकलौता नया चमचमाता हुआ स्कूटर लुट चुका था। लोग मुझसे पूछ रहे थे, "क्या हुआ? आंखें अब कैसी हैं? इन मोटर साइकिल सवारों को तुम जानते हो? सूटकेस में क्या माल था?" पर कोई यह नहीं पूछ रहा था, "स्कूटर नया था या पुराना? कौन से ब्रांड का था? कौन-सा मॉडल था?"

कुछ लोग अब एक छोटी-सी भीड़ में बदल गए थे। उन्हें मेरा हर उत्तर स्वीकार्य था किंतु इसमें संदेह हो रहा था कि स्कूटर पर लदा वह सूटकेस खाली था। मैंने सुना उस भीड़ में कुछ लोग दबी जबान में कह रहे थे, "लगता है यह आदमी नंबर दो का धंधा करता है। खाली सूटकेस को कोई भला क्यों लूटेगा? जरूर उसमें कोई मोटा माल था। इन्कमटैक्स वालों के कारण यह पर्दा डाल रहा है।"

तभी भीड़ में से एक सुझाव आया, "वारदात की रपट तुरंत थाने में करो। लुटेरे दूर नहीं गए होंगे। पुलिस नाकाबंदी करके उन्हें पकड़ भी सकती है और माल भी बरामद करा सकती है।" एक सहृदय अपने स्कूटर पर बैठकार मुझे थाना सिविल लाइंस के दरवाजे पर भी छोड़ आए। उनका स्कूटर लगभग आठ साल पुराना था, लेकिन इससे क्या होता है। पुराने स्कूटर ने भी इस दुर्घटना को कुछ तो गतिशीलता प्रदान की ही थी वरना अपने स्कूटर के लुटने पर मैं तो गतिविहीन हो चला था।

सूजी हुई मिचमिचाती आंखों से मैं थाने में इंस्पेक्टर साहब के सामने बैठा था। सारी वारदात विस्तार से सुनने के बाद इंस्पेक्टर ने प्रश्न किया–"आपने मोटर साइकिल का नंबर नोट किया?"

"मेरी आंखों में मिरचें झोंक दी गयी थीं।"

दूसरा प्रश्न आया–"उन मोटर साइकिल सवारों को पहचान सकते हो?"

"कुछ-कुछ। मिरचें डालने से पूर्व सामने से आते हुए मैंने उन्हें एक झलक देखा था। आगे बैठे मोटर साइकिल चलाने वाले को ज्यादा अच्छी तरह पहचान सकता हूं।"

"गुड" कहकर इंस्पेक्टर ने घंटी बजा दी, "फोटो एलबम लाओ।"

"मुझे इंस्पेक्टर का व्यवहार बड़ा प्रभावित कर रहा था। वह टेलीविजन के शरलक होम्स की तरह ही बड़े नपे-तुले शब्दों में इस दुर्घटना के तल में पैठता चला जा रहा था।

फोटो एलबम के दो पृष्ठ खोलकर मेरे सामने रख दिए गए। इन पर लगभग सोलह फोटो लगे थे जो आंखों में मिरचें झोंककर लूटने वाले गिरोह के सदस्य बताए जाते थे। "इनमें से कौन था?"

मैंने सभी फोटों पर दृष्टि जमाई। अपनी स्मरणशक्ति पर पूरा बल दिया पर मोटर साइकिल सवारों का हुलिया उन फोटों से बिलकुल नहीं मिलता था। सो कहना पड़ा कि इनमें से कोई नहीं है।

निराश इंस्पेक्टर ने गहरी सांस छोड़कर एलबम बंद कर दी। पास बैठे सब-इंस्पेक्टर से बोले, "जनता हमको बिलकुल कॉपरेट नहीं करती। मोटर साइकिल का नंबर नहीं है। मुल्जिमों के फोटो पहचान नहीं सकते और हमसे चाहते हैं कि हम वारदात खोल दें। जादू का चिराग है क्या हमारे पास!"

शरलक होम्स का व्यक्तित्व धीरे-धीरे यू॰ पी॰ पुलिस में परिवर्तित होने लगा था। साथ बैठे सब-इंस्पेक्टर ने प्रश्न दागा–"सूटकेस में क्या-क्या था?"

मैं इस संभावित प्रश्न का उत्तर पहले ही दे चुका था। "खाली था, वापस लौटाने ले जा रहा था।" सो वही दोहरा दिया।

"अजीब बात है, खाली सूटकेस को लूटने का रिस्क लिया उन्होंने!" इस बार संदेह के घेरे में मैं था।

मैंने स्पष्टीकरण दिया, "और मेरा नया स्कूटर भी तो था।" मेरे उत्तर से बेखबर इंस्पेक्टर ने पूछा, "क्या करते हो?"

यह जानकर कि मैं सरकारी नौकरी करता हूं, उसका मुंह लटक गया। मुझे व्यापारी मानकर उनके पुलिसिया मन ने जो ताना-बाना बुना होगा उसे मेरे सरकारी नौकर होने की जानकारी के एक ही झटके ने छिन्न-भिन्न कर दिया था। सब-इंस्पेक्टर ने इंस्पेक्टर के सामने दूसरा सुझाव रखा, "सर, यह तो मालूम कर लें कि वारदात किस स्थान पर हुई थी। सिविल लाइंस रोड का उत्तरी हिस्सा थाना लालकुर्ती में लगता है। कहीं हम बेकार ही सिर खपा रहे हों।" अब उन्हें मेरा केस अर्थहीन लग रहा था सो उनकी मानसिकता मुझसे छुटकारा पाने की बन गयी थी।

मेरी यह कमजोरी बचपन से रही है कि मैं पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण का झंझट नहीं समझ पाता हूं। यह दिशाज्ञान मुझे हमेशा भ्रमित करता रहा है। सो मौका-ए-वारदात की स्थिति मुझे उन्हें कुछ इस तरह समझानी पड़ी, "बेगम बाग से शास्त्रीनगर जाते हुए सिविल लाइन्स रोड पर दायीं ओर।" इंस्पेक्टर ने फिर पूछा "दायीं ओर या बायीं ओर?" "दायीं ओर ही चलना होता है इसलिए मैं ट्रैफिक नियमों के अनुसार दायीं ओर ही चला रहा था।" सब-इंस्पेक्टर ने थोड़ा नाराजगी से पूछा, "खाली सड़क देखकर मस्ती में स्कूटर बायीं ओर तो नहीं मोड़ दिया था?" "सवाल ही नहीं उठता। मैं नियमों का पाबंद हूं।" मेरा उत्तर था। दोनों ने एक-दूसरे को आंखों ही आंखों में झांका और चुप हो गए। दरअसल, सिविल लाइंस रोड का दायां हिस्सा थाना सिविल लाइंस के कार्यक्षेत्र में आता था और बायां थाना लालकुर्ती के कार्यक्षेत्र में। अब यदि गलती से भी

मेरा स्कूटर सड़क के मध्य से एक इंच दूसरी ओर खिसक गया होता या मैं इस वार्ता में एक इंच भी जुंबिश खा गया होता तो मुझे अब तक की सारी कार्यवाही पर पानी फेरकर अपनी रिपोर्ट लिखाने के लिए थाना सिविल लाइंस से उठकर थाना लालकुर्ती जाना पड़ता।

उनका मौन मैंने तोड़ा, "आप मेरी रपट लिख लीजिए।"

"कोई चश्मदीद गवाह है?" सब-इंस्पेक्टर अभी तक झुंझलाया हुआ था।

"जी, मोटर साइकिल और स्कूटर को भगाकर ले जाते हुए कई लोगों ने देखा था।" मैंने शांत भाव से प्रत्युत्तर दिया।

"कहां हैं वे कई लोग?" इंस्पेक्टर ने यू॰ पी॰ पुलिस के लहजे में पूछा।

इस बार अचकचाने की बारी मेरी थी। सिविल लाइंस रोड के प्रत्यक्षदर्शियों में से तो वहां कोई न था। वह पुराने स्कूटर के मालिक सहृदय महानुभाव भी थाने पर मुझे छोड़ते ही भाग खड़े हुए थे। हां, अब तक इस दुर्घटना की जानकारी मेरे घर तक पहुंच चुकी थी। अतः मेरे परिवारगण, मित्र, हितैषी और पड़ोसी थाने के अहाते में आ जुटे थे और इंस्पेक्टर के कमरे से मेरे निकलने का इंतजार कर रहे थे। मेरे अपने लोगों में से कुछ खिड़की के कांच से अंदर भी झांक रहे थे। मैंने इंस्पेक्टर से कहा—"मैं अभी देखकर लाता हूं।" और कमरे से बाहर आ गया।

अपराध हुआ था। सरेराह नया स्कूटर लूटा गया था अतः एफ॰ आई॰ आर॰ तो लिखी ही जानी चाहिए थी। अब यदि सड़क के असल चश्मदीद गवाह नदारद हों तो क्या अपराध की रपट भी न लिखी जाए। थाने के अहाते में एकत्र हितैषियों में से दो को सारा वाकया सुना-समझाकर चश्मदीद गवाही के लिए तैयार किया गया। तब जाकर कहीं मेरे नये स्कूटर लूटने की एफ॰ आई॰ आर॰ दर्ज की जा सकी। आज अपने देश में सत्य को झूठ की बैसाखियों का सहारा लेकर चलना पड़ता है।

एफ॰ आई॰ आर॰ लिखने से पहले इंस्पेक्टर ने एक बार फिर बड़ी गहराई से मेरी आंखों में झांककर पूछा था, "तो तुम एफ॰ आई॰ आर॰ लिखवाना ही चाहते हो?" मानो कह रहा हो कि बच्चू, न लिखाओ तो अच्छा है। थाने की सीमाओं में, वर्दी की मर्यादा में और मेरी जानकार भीड़ की उपस्थिति में वह शायद चाहकर भी इससे ज्यादा खुलासा नहीं कह सका था, वरना शायद वह मुझे कुछ और ऊंच-नीच और व्यावहारिकता समझाता।

"देखिए, मेरा नया स्कूटर तो लुटा ही है।" मैंने ससंकोच उत्तर दिया था।

"ठीक है, फिर लिखाइए, वाकया कितने बजे का है? यानी स्कूटर कितने बजे लुटा?"

"सात बजे का।" मेरा संक्षिप्त उत्तर था; क्योंकि मैं घड़ी में देखकर सात बजने में पांच मिनट पर घर से निकला था।

"और अब एफ० आई० आर० कितने बजे लिखी जा रही है?" इंस्पेक्टर उसी प्रकार रजिस्टर पर झुका था। मैंने अपनी घड़ी पर निगाह डाली जिसमें नौ बजे थे। मैंने कहा, "अब नौ बजे हैं।" स्कूटर की खरीद के सभी कागजात घर से मंगा लिये गए थे। उसकी रसीद संख्या, स्कूटर नंबर, मेक, चेसस नंबर आदि सभी बाजाब्ता रपट में नोट कर दिया गया था। जब मैं घर लौटा तो नये स्कूटर की जगह मेरे हाथ में एफ० आई० आर० की कार्बन कॉपी की एक नकल भर थी।

सारी रात मुझे स्कूटर का गम सताए रहा। स्कूटर के ही सपने आते रहे। कमबख्त मिरचें झोंकनेवाले ने यह भी न देखा कि कितनी मेहनत से मैंने वह स्कूटर हासिल किया था, उसके लिए कितने अरसे तक कितने जोड़-तोड़ मिलाए थे।

सुबह की ताजा चाय और अखबार की हैडलाइन में मैं अपने परम प्रिय स्कूटर को लगभग भूल चुका था कि दरवाजे की कॉलबैल बज उठी। श्रीमती जी ने दरवाजा खोला तो सामने दीवान जी खड़े मुसकरा रहे थे। मैं एक हाथ में चाय और एक में अखबार लिये दरवाजे पर ही आ गया। "बाबूजी, बधाई हो, आपका स्कूटर मिल गया। अब तो मिठाई खिला दो।" दीवान जी सहज भाव से मुसकरा रहे थे।

मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था। यू० पी० पुलिस में स्काटलैंड यार्ड की-सी तत्परता कैसे आ गयी। रिपोर्ट लिखाने से बारह घंटे से भी कम समय में स्कूटर बरामद। मैंने दीवान जी की ओर एक बार फिर सतर्क दृष्टि डाली थी कि कहीं मजाक तो नहीं कर रहे हैं। लेकिन उनकी सहज मुसकराहट में कोई कुटिलता या विकार नहीं दिख रहा था। मैंने दरवाजे से रास्ता बनाते हुए कहा, "आप अंदर आइए न! कैसे मिला? कहां मिला?"

दीवान जी पूरी सिपहिया शान से मेरी दिखाई कुर्सी पर विराज गए। श्रीमती जी दौड़कर रसोई से उनके लिए चाय ले आयीं। चाय की चुस्की लगाते हुए उन्होंने बताया कि नाइट ड्यूटी पर जब वह कंपनी बाग का चक्कर लगा रहे थे तो माल रोड पर उन्हें एक स्कूटर एकांत में लावारिस खड़ा मिला। बहुत देर तक जब उसे कोई उठाने नहीं आया तो उन्होंने उसका नंबर नोट करके थाने में मेरी लिखाई एफ० आई० आर० से मिलवाया। नंबर मिल गया था इसलिए वह स्कूटर थाने में ले आए और अब स्कूटर थाने में खड़ा है। हां, सूटकेस स्कूटर के साथ नहीं था। फिर दीवान साहब जी ने भेदभरे शब्दों में पूछा, "क्या सूटकेस में कुछ ज्यादा माल था?"

दीवान जी की सूचना से मेरी बांछें खिल उठी थीं। रोम-रोम प्रफुल्लित था। जैसे किसी नये स्कूटर की लाटरी निकल आयी हो, सो दीवानजी के प्रश्न के भेद को भुला मैं बोला, "अजी, सूटकेस को मारो गोली। चार सौ रुपये का और आ जाएगा। स्कूटर तो मिल गया न। हमें तो वही सही-सलामत चाहिए था।"

"आपको इंस्पेक्टर साहब ने याद किया है। और मेरा इनाम न भूलिएगा।" कहकर दीवान जी चले गए। मेरी प्रसन्नता का इस समय कोई ठिकाना न था। भगवान की सत्ता पर मुझे इस समय पूर्ण विश्वास हो रहा था। जल्दी से बदन पर कपड़े डाल मैं थाने पहुंच गया था।

थाने के अहाते में मेरा स्कूटर खड़ा था। मैंने उसके चारों ओर चक्कर लगाकर देखा। कहीं कोई डेंट या खरोंच नहीं आयी थी। स्कूटर वैसा ही वन-पीस था जैसा मैं कल शाम उसे घर से सात बजे लेकर निकला था। मैंने मन ही मन संतोष की सांस लेकर ईश्वर को धन्यवाद प्रेषित किया।

मुझे देखकर इंस्पेक्टर अपने कमरे से बाहर आ गया था, "देखिए, हमने स्कूटर बरामद कर दिया।" मुझे लगा वह प्रशंसा और दाद चाहता है। मैंने भी कंजूसी नहीं दिखाई, "आपने तो कमाल ही कर दिया, जनाब, बारह घंटे के अंदर-अंदर स्कूटर बरामद। लोग खामखाह पुलिस पर लापरवाही का दोष लगाते रहते हैं।"

"लोगों का क्या है, उन्हें तो कुछ न कुछ कहने को चाहिए। अब आप ही देख लीजिए। मेरे विचार से आपका स्कूटर छीना गया था सूटकेस में माल होने की संभावना पर। पर आपने बताया कि वह खाली था। लुटेरे स्कूटर-चोर नहीं थे। इसे वे पचा नहीं पाए सो माल रोड पर छोड़ गए। देखिए, स्कूटर का सारा सामान मौजूद है, वरना चोर कैरियर तो क्या, पहिए और स्टप्नी तक उतार लेते हैं।" इंस्पेक्टर का यह प्रातःकालीन व्यवहार बड़ा दोस्ताना था।

मैंने उनकी प्रशंसा में फिर कुछ कहा था। यू० पी० पुलिस और उसकी कार्य कुशलता की भी अतिशयोक्ति की हद तक मुक्त कंठ और मुक्त हृदय से तारीफ की थी, फिर धन्यवाद भी दिया था। और इस सब औपचारिकता से उबरकर अंत में अपना स्कूटर ले जाने की अनुमति मांगी थी।

मेरी बातों से बेहद प्रसन्न एवं प्रभावित इंस्पेक्टर ने मेरे अंतिम वाक्य में स्कूटर ले जाने की मांग सुनकर मुंह लटका लिया था। एक मिनट मौन रहकर उसने मुझे दोस्ताना ढंग से समझाया—"बाबूजी, नियमानुसार अब हम स्कूटर मजिस्ट्रेट साहब के लिखित आदेश पर ही छोड़ सकते हैं।"

"पर आप जानते हैं कि स्कूटर तो मेरा है, जो मुझे मिलना चाहिए।"

"वह तो है। मैं इससे कब इनकार कर रहा हूं। पर एफ० आई० आर० लिखी जा चुकी है। केस दर्ज हो गया है। अब यह स्कूटर केस प्रॉपर्टी है। इसको छोड़ना या आपको लौटाना हमारे अधिकार-क्षेत्र से बाहर है।"

इंस्पेक्टर मेरी निराशा-भरी मुखमुद्रा से थोड़ा विचलित हुआ था। उसने धैर्य बंधाया, "देखिए, कानून और नियमों का पालन तो करना ही होगा। मेरी मानिए तो एक वकील कर लीजिए। वह जुडीशियल मजिस्ट्रेट से आपका स्कूटर आपकी सुपुर्दगी में दिला देगा। लेकिन हम मजबूर हैं। कोर्ट के आदेश के बिना हम स्कूटर किसी को नहीं सौंप सकते।"

इंस्पेक्टर के स्वर में आत्मीयता गहराई थी। मैं अपना-सा मुंह लेकर लौट गया। दफ्तर से छुट्टी ली और कचहरी में एक दोस्त वकील के पास पहुंच गया। सारे वाकये पर पहले उसने अफसोस जाहिर किया, फिर स्कूटर मिलने पर प्रसन्नता दर्शायी और फिर जल्द से जल्द स्कूटर दिलाने के वादे के साथ मेरी पीठ ठोंक दी। उनकी मजबूत ठोंक से आश्वस्त होकर मैंने वकालतनामे पर हस्ताक्षर कर दिए।

एफ॰ आई॰ आर॰ के आधार पर वकील साहब ने जुडीशियल मजिस्ट्रेट के लिए मेरी ओर से एक प्रार्थना-पत्र तैयार किया। फिर हस्ताक्षरों के लिए मेरे सामने बढ़ा दिया। मैंने पढ़ा, उसके अंतिम पैराग्राफ में लिखा था-"अत: केस के अंतिम निर्णय तक स्कूटर मेरी सुपुर्दगी में देने के आदेश प्रदान करने की कृपा करें।" मैंने आश्चर्य से वकील साहब की ओर देखा, "स्कूटर तो मेरा है! अब मिल गया है, तो मुझे वापस मिलना चाहिए। ये सुपुर्दगी-वुपुर्दगी का क्या मतलब?"

वकील मित्र ने मेरी पीठ पर फिर एक धौल दिया, "यार, मैं कब कह रहा हूं कि यह स्कूटर मेरा है। तुम्हारा है, तभी तो तुम्हें दिलाया जा रहा है। पर सोचो, यह केस एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य भी तो है। अगर यह स्कूटर नहीं होगा तो अपराधी को सजा कैसे मिलेगी? तुम घबराते क्यों हो? ये तो बस कानूनी औपचारिकताएं हैं।" "पर अपराधी तो पकड़े ही नहीं गए?" मैं सोच रहा था अपराधी को जब सजा मिलेगी, मिलेगी, मुझे तो अभी से मिल रही है। "पकड़े तो जा सकते हैं। जब पकड़े जायेंगे तो मुकदमा चलेगा। और उस समय यह तुम्हारा स्कूटर अपराधियों को सजा दिलाने में साक्ष्य का काम करेगा।" मित्र ने अपना कानूनी अनुभव बघारा।

"लेकिन यदि अपराधी पकड़े ही नहीं गए तो यह मेरा स्कूटर हमेशा मेरे पास सुपुर्दगी में ही रहेगा।" मैंने आशंका जाहिर की।

"यार, तुम इतने निराशावादी कब से हो गए?" वकील साहब ने फिर मेरी पीठ को थपथपाया, "कभी ऐसा हुआ है कि अपराधी न पकड़ा गया हो। और फिर रहेगा तो स्कूटर तुम्हारे पास ही।" वकील साहब पर इतना जिरह करने वाला मुवक्किल संभवतया पहले कभी नहीं आया था।

"पर मान लो पकड़ा ही नहीं गया तब? तब तो मेरा स्कूटर मेरे पास बतौर अमानत ही रहेगा न?" आशंका थी कि मेरा पीछा ही नहीं छोड़ रही थी।

"तब फिर कोई और तरकीब सोचेंगे। अब तो स्कूटर थाने से बाहर निकालो। स्कूटर मिलने की एक ही सूरत है कि मजिस्ट्रेट से सुपुर्दगी के आदेश करा लिये जाएं। आखिर तुम्हारा स्कूटर अब केस-प्रॉपर्टी है।" वकील साहब इस बेवजह बहस से बोर हो चुके थे।

"यह तो सरासर अन्याय है।" अनायास ही मेरे मुंह से निकल गया।

"पर है न्याय की पुस्तक के अनुसार ही।" हंसकर वकील साहब ने ऐविडेंस एक्ट मेरी ओर सरका दिया था। अनिच्छा और बुझे मन से मैंने प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर बना दिए।

जुडीशियल मजिस्ट्रेट ने चश्मे के पीछे से मुझे घूरकर देखा था, "तो ये स्कूटर तुम्हारा था!"

'था' शब्द पर मुझे गंभीर आपत्ति थी। उसके स्थान पर 'है' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था, किंतु मेरे मुंह से उत्तर निकला, "जी, सर!"

मजिस्ट्रेट ने मुझे समझाया, "देखो, यह स्कूटर अब केस-प्रॉपर्टी है। दो आदमियों की जमानत पर तुम्हें इस शर्त पर सौंपा जा रहा है कि तुम स्कूटर को हमेशा इसी हालत में रखोगे। केस की जिस डेट पर इसकी आवश्यकता होगी, तुम इसे पेश करोगे। स्कूटर के कागजात कोर्ट की फाइल में रहेंगे और इस बीच तुम उसे किसी को बेचोगे नहीं। समझ गए न?"

समझ तो मैं रहा था किंतु मजिस्ट्रेट साहब की शर्तों पर मुझे घोर आपत्ति थी। अतः मैं हिचकिचाया पर कुछ कहना ही चाह रहा था कि मेरे वकील ने मेरी ओर से समर्थन में सिर हिला दिया, "यस, योर ऑनर!" वकालतनामे पर हस्ताक्षर कराकर यह अधिकार उन्होंने मुझसे पहले ही प्राप्त कर लिया था।

जुडीशियल मजिस्ट्रेट साहब ने पूर्व-लिखित आदेश पर हस्ताक्षर खींच दिए और अपने ही स्कूटर की सुपुर्दगी का परवाना लेकर मैं कोर्ट-रूम से बाहर आ गया।

मैं समझ नहीं पा रहा था कि मेरा स्कूटर सात बजे लुटा था जब मेरी आंखों में मिरचें झोंकी गयी थीं या नौ बजे जब मैंने एफ० आई० आर० लिखाई थी।

मरता क्या न करता?

आजकल मैं अपने पड़ोसी अनोखेलाल जी से बहुत परेशान हूं। गाहे-बगाहे आकर दिमाग चाट जाते हैं। न जाने क्यों, उन्हें सारे संसार के दुख-दर्द की चिंता सताए रहती है। सताया करे, इससे मेरा क्या सरोकार! अगर सारे जहां का दर्द उनके जिगर में है तो हुआ करे। पर दिक्कत तो यह है कि उन्होंने सारी दुश्चिंताओं का त्राणदाता मुझ गरीब को ही क्यों मान रखा है? कोई भी बुलबुला उठा नहीं कि आ धमके मेरे पास सूई चुभवाने। और एक मैं हूं कि एक अच्छे पड़ोसी के धर्म-निर्वाह के संकोच से नहीं उबर पा रहा हूं। यही सोचते-सोचते झपकी लगी तो देखा कि शरीर के अंदर दो कीटाणुओं का खुला द्वंद्व-युद्ध चल रहा है।

रोग-निरोधक कीटाणु ने अपने अगले दो पंजों में रोग-आक्रामक कीटाणु को जकड़ रखा था और खुली चुनौती दे रखी थी, "मैं एड्स के कीटाणुओं के अलावा किसी से डरने वाला नहीं हूं। तू क्या समझकर यहां आया था, इस शरीर का कोई रक्षक नहीं है? बोल, यही बात थी ना?" रोग-निरोधक ने रोग-आक्रामक के पंजे मरोड़ दिए थे।

रोग-आक्रामक कीटाणु दर्द से कराह उठा। बोला, "मैं तो पड़ोस में अनोखे लाल चौरसिया के यहां रहता था। रेंगता-रेंगता इधर निकल आया। तुम्हारे स्वामी का हृष्ट-पुष्ट शरीर देखकर मुंह में पानी आ गया। लालच में आकर घुसपैठ कर बैठा। मुझे क्या पता था कि तुम अंदर बैठे हो। मुझे माफ कर दो। मुझसे गलती हुई। मैं वापस चला जाऊंगा।" रोग-आक्रामक कीटाणु गिड़गिड़ाया।

"तुझे पता होना चाहिए, मेरे स्वामी मुझे रोज बादाम का निशास्ता पिलाते हैं। तेरे जैसों से रक्षा करने के लिए ही मुझे पाला-पोसा गया है। तू सच-सच बोल दे कि तू स्वयं आया है कि अनोखेलाल जी ने तुझे जान-बूझकर भेजा है?" कहकर उसने दूसरा पंजा भी जोर से उमेठ दिया। रोग-निरोधक को ज्ञात था कि अनोखेलाल जी जब-तब उसके स्वामी की खोपड़ी चाटने आ जाते थे। सो वह स्वामीभक्त अपना संदेह निवारण कर रहा था।

रोग-आक्रामक लगभग चीख उठा, "सच मानो, बड़े भाई, अनोखेलाल जी को तो मेरे आने का पता भी नहीं है। मैं तो बस उनके घर के प्रदूषण में पला, बड़ा हुआ हूं। उनके मेहमानों को अपना भोजन बनाता रहा हूं। फ्री-लांसर हूं। इधर-उधर घूमता-फिरता रहता हूं। हां, शरण अनोखेलाल जी के ही यहां पाता हूं। इस बार मुझे छोड़ दो, फिर कभी इधर को मुंह नहीं करूंगा।"

रोग-निरोधक के संदेह का निवारण हो गया था। लेकिन पकड़कर छोड़ना उसकी आदत में शुमार न था। बोला, "बचकर तू अब जा नहीं सकता। मेरे स्वामी मुझे दिन में दो पहर इसीलिए गिलास भर-भरकर दूध नहीं पिलाते कि मैं तुम्हें छोड़ता फिरूं। मेरी मांसपेशियां देखी हैं? आज मैं तुझे मसलकर तेरा कचूमर निकालूंगा।"

रोग-आक्रामक को अपना अंतिम समय निकट लगा। 'मरता क्या न करता' वाली स्थिति बन गयी थी। सो श्री अनोखेलाल जी के संपर्क में जो कुछ सीखा था, उस आधार पर एक दांव फेंका–"गुरु, मैं तो कमजोर हूं, चाहे जो कर लो। पर कभी एड्स के कीटाणु से वास्ता पड़ गया तो क्या करोगे?"

"तू मुझे डरा रहा है! उसका तो सवाल ही पैदा नहीं होता। मेरे स्वामी लंगोट के पक्के हैं। एड्स तो आसपास भी नहीं फटक सकता।" कहकर रोग-निरोधक कीटाणु ने एक कसकर उमेठ लगाई।

"लंगोट के पक्के सही, पर मन के तो कच्चे हैं। रांगोली भार्गव के कॉलेज जाने के समय लॉन में आकर नहीं बैठ जाते! कई-कई घंटे फिल्मी पत्रिका नहीं उलटते-पलटते रहते! टी० वी० पर स्टार प्लस का प्रोग्राम नहीं देखते क्या! एड्स का क्या है, कभी भी आक्रमण कर सकता है।" दर्द सहकर भी रोगात्मक कीटाणु फटाफट बोल गया। मौत की छाया उसके सिर पर जो मंडरा रही थी।

"मेरे मालिक का चरित्र हनन करता है बे, तुझे सबक सिखाना ही पड़ेगा।" कहकर रोग-निरोधक ने इतने जोर से हाथ घुमाया कि रोग-आक्रामक की अगली एक टांग उखड़कर उसके हाथ में आ गई। रोग-आक्रामक कीड़ा पीड़ा से दहल गया। उसका अंग-भंग हो गया था। पंजे की जड़ से काला दूषित खून बह निकला था।

लेकिन जान अभी बाकी थी, जो गले में अटकी थी। किसी भी कीमत पर उसे बचना था। सो उसने फिर कोशिश की, "मेरा ऐसा कोई मतलब नहीं था, पहलवान। मैं तो यह बता रहा था कि वायरस बुखार की तरह संभव है कि भविष्य में एड्स भी तरक्की करके बिना संसर्ग के ही आक्रमण करने लगे। केवल विचारों की तरंगों पर तैरकर हमला करने की शक्ति प्राप्त कर ले। फिर तो यौन-विचारक भी सुरक्षित नहीं रह पाएंगे न।"

सुनकर रोग-निरोधक थोड़ा ढीला पड़ा। वायरस के गुण-स्वभाव से वह परिचित था। उसे न छूने की जरूरत पड़ती है, न पास आने की। रिमोट कंट्रोल की तरह काम करता है। कहीं यह अवगुण एड्स में विकसित हो गया तो? स्वामी के रंगीन स्वभाव की उसे जानकारी थी। चोरी न सही, हेराफेरी से बाज नहीं आते थे। सौंदर्य के किशोरावस्था से पारखी रहे थे। विधाता की सुघड़-सुडौल कृतियों को प्रशंसा से बार-बार निहारते थे। सो संशय अंकुरित हो उठा। रोग-रक्षक सचेत हो गया।

पर रोग-आक्रामक कीटाणु से तो हार नहीं माननी थी न। सो बोला-"तू मुझे पाठ नहीं पढ़ा। मेरे स्वामी पूर्ण सुरक्षित हैं। कल ही समाचारपत्र में पढ़ रहे थे कि इस सदी के अंत तक साठ लाख लोगों को एड्स की बीमारी होगी। इन साठ लाख लोगों में मेरे स्वामी का कहीं नाम नहीं था।"

रोग-आक्रामक कीटाणु ने मौत की छाया के नीचे भी मुसकराने का नाटक किया। उसे उतनी ही देर जीवनदान मिल सकता था जितनी देर वह पहलवान रोग-निरोधक को बातों में उलझाए रखे, अतः फिर बोला-"लेकिन उनका नाम साठ लाख के बाद साठ लाख एकवां तो हो सकता है।"

"तू विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रमुख अधिकारी माइकल मर्सन की बात को गलत बता रहा है। उन्होंने सदी के अंत तक साठ लाख कहे हैं तो साठ लाख ही रहेंगे। साठ लाख एक नहीं हो सकते। तुझे आंकड़े के महत्त्व की कोई समझ नहीं है।" कहकर स्वास्थ्य-रक्षक ने रोग-आक्रामक को घुमाकर एक लात मारी। रोग-आक्रामक कीट तिलमिला गया।

मौत का फासला कुछ कदम का रह गया था। रोग-निरोधक कभी भी उसकी गरदन जड़ से उखाड़ सकता था। इसलिए असहनीय वेदना में भी वार्ता का क्रम चालू रखना जरूरी था, इतना ज्ञान रोग-आक्रामक को अनोखेलाल जी के घर टी॰ वी॰ पर फिल्में देखते-देखते हो गया था। बोला-"और इस सदी के बाद क्या होगा? तब तो तेरे स्वामी का नंबर आ सकता है न?"

"उसमें अभी चार साल हैं। तब तक मैं अपनी ताकत और बढ़ा लूंगा। आज से ही फिर वर्जिश शुरू कर देता हूं। तब मैं एड्स की टांगें भी इसी तरह तोड़ दूंगा। तू उसके लिए क्यों दुबला हो रहा है बे!" कहकर रोग-रक्षक ने रोगी कीटाणु की दूसरी टांग भी जड़ से अलग कर दी।

रोग-निरोधक कीटाणु हृष्ट-पुष्ट, निर्भीक, स्वामिभक्त ही नहीं लग रहा था वरन निर्दयी भी लग रहा था। उससे सहज छुटकारे की अब कोई संभावना शेष नहीं रह गयी थी। पर जीवन तो जीवन ही है। अंतिम क्षणों तक प्रयत्न करना चाहिए सो रोग-आक्रामक कीटाणु चापलूसी-भरे शब्दों में अनुनय-विनय करने लगा, "हम तो तुम्हारे यहां दो-चार रोज के लिए मेहमान बनकर आए थे। किसी

अच्छे डॉक्टर की दवा-दारू पिलवाते। दो-चार रोज खा-पीकर चले जाते। तुम्हारे स्वामी को भी आराम मिलता। तुम तो खामखाह मारपीट पर उतर आए।"

"दवा-दारू क्यों, रवड़ी और मलाई खिलाता! सारा अतिथि धर्म मेरे स्वामी के ही हिस्से में आया है न। पोल का माल समझ रखा है!" कहकर रोग-निरोधक ने एक लात और जड़ दी।

रोग-आक्रामक पेट पकड़कर बैठ गया। शेष बचे दोनों हाथ जोड़कर बोला-"प्रभो! कोई रास्ता है, जो जीवनदान मिल सके। मैं सारी जिंदगी तुम्हारा गुलाम बना रहूंगा। तुम्हारे इशारे पर नाचूंगा और जो हुकुम दोगे बजा लाऊंगा। पर इस बार छोड़ दो। फिर कभी गलती न होगी।"

स्वामिभक्त रोग-निरोधक को अनोखा उपाय सूझा, "अच्छा, एक शर्त पर छोड़ सकता हूं।"

"आप हुक्म तो करें, पहलवान जी, मुझे सब स्वीकार है।" रोग-आक्रामक को अंधेरे में रोशनी की एक किरण दिखाई दी।

"तो जा, तू अभी वापस जाकर अपने स्वामी श्री अनोखेलाल जी के शरीर में प्रवेश कर जा। ऐसा रोग दे कि कम-से-कम एक हफ्ता इधर मुंह न कर सकें।" रोग-निरोधक ने आदेश दिया।

"आपका हुक्म सिर-माथे, गुरु! ऐसा डंक मारूंगा, ऐसा डंक मारूंगा कि एक हफ्ता क्या, पंद्रह दिन भी बिस्तर से न उठ पायेंगे; चाहे बड़े से बड़ा डॉक्टर बुला लें।" रोग-आक्रामक ने तुरंत वायदा किया।

सशर्त अभयदान पाकर रोग-आक्रामक कीटाणु अपनी शेष दो टांगों पर लंगड़ाता हुआ वापस चला गया। सचमुच माननीय पड़ोसी श्री अनोखेलाल चौरसिया अगले पंद्रह-बीस दिन मेरे पास नहीं आए। अब मुझे उनकी याद सताने लगी है।

सुधार का बुखार

धर्म-निरपेक्षता आजकल एक जलती हुई समस्या है। इसके चारों ओर इतनी आग सुलगी है, इससे इतनी भंयकर लपटें निकल रही हैं कि इसे किसी भी कोण से छुआ जाए, कितनी भी सावधानी बरती जाए, हाथ-पैर जले बिना नहीं रह सकते। इसलिए धर्म-निरपेक्षता को नामी-गिरामी राजनीतिज्ञों, महान विचारकों, उद्भट बुद्धिजीवियों, संविधान-मर्मज्ञों और राष्ट्र के कर्णधारों को सौंपकर मैंने अपना क्षुद्र ध्यान जाति-निरपेक्षता पर केंद्रित करना ही श्रेयस्कर समझा।

हर शुभ कार्य घर से ही प्रारंभ होना चाहिए, इसलिए मैंने भरे परिवार में घोषणा की—"इस बार लड़की के विवाह में जाति-पांति का विचार नहीं करेंगे।"

श्रीमती जी ने आंखें तरेरीं। भृकुटी चढ़ायी। फिर इशारा करके दूसरे कमरे में बुलाया, "तुम्हारी मति मारी गयी है क्या? जवान लड़कियों के सामने कच्ची-पक्की बातें कर रहे हो। अगर वे इन्हें सच समझ बैठीं तो...?"

"तो क्या मैं झूठ बोल रहा हूं!" जाति-निरपेक्षता मेरे सिर पर सवार थी। सुधार के बुखार का पारा एक सौ सात डिग्री पार कर चुका था।

"मेरे घर में तुम्हारा यह सुधार-वुधार नहीं चलने वाला है, जी। अपने आदर्श और नारे किसी सभा-सोसायटी के लिए रखो। ये मंच पर और किताबों में ही अच्छे लगते हैं। और मेरा घर न तुम्हारा मंच है और न तुम्हारी किताब। मुझे अभी बिरादरी में जीना है।" श्रीमती जी तुनक गयीं।

लगा, कहीं कोई गलती हो गयी थी। घर अकेला मेरा नहीं था, मेरी घरवाली का भी था। बराबर नहीं, शायद कुछ ज्यादा ही। इस कहावत में अभी भी जान थी—'घर का जोगी जोगिया, आन गांव का सिद्ध'। महाकवि रवींद्रनाथ टैगोर को भी अपने देश में तभी ठीक से मान्यता मिल सकी थी जब विदेशियों ने उन्हें नोबल पुरस्कार दे दिया था। महान-कर्मों को ये प्रारम्भिक झटके तो झेलने ही पड़ते हैं। गलती अपनी ही थी। श्रीगणेश घर से नहीं, अपने से करना चाहिए था।

सो नाम के आगे जातिसूचक 'अग्रवाल' लगाना बंद कर दिया। दफ्तर के कनिष्ठ सहयोगियों ने दो-चार बार तो स्वयं ही भूल-सुधार कर ली, पर जब

यह भूल बार-बार और लगातार होने लगी तो एक रोज पांडेजी ने छेड़ ही दिया, "क्या धर्म-परिवर्तन कर लिया है?"

"धर्म नहीं, जाति।"

"अब कौन-सी पकड़ी? फायदा तो अनुसूचित में है। तरक्की के सारे दरवाजे खुल जाते हैं।" पांडे जी ने उलाहना दिया।

मैंने जवाब देना भी उचित नहीं समझा।

मुझे पांडे जी की क्षुद्र बुद्धि पर तरस आया। समाज क्यों नहीं तरक्की कर पाता, अब यह बात मेरी समझ में आने लगी थी। अरे, समाज तो वह ताकत है कि कहीं से कहीं छलांग लगा दे, समुद्र के समुद्र उलांघ जाए, लेकिन उसके दूषित दिमाग, संकुचित धारणाएं उसके पैरों में बेड़ियां डाले हुए हैं। उसे जकड़े हुए हैं। पकड़े हुए हैं। वह कूदना तो दूर, चल भी नहीं पा रहा है।

बात सारे दफ्तर में चल निकली थी। अनुसूचित जाति अपनाकर मैं जल्द से जल्द तरक्की चाहता हूं। इत्तफाक से मेरा 'बॉस' इसी जाति विशेष का बंदा था। मुझसे जूनियर होकर भी मेरा बॉस था। मुझे इसमें कभी कोई ऐतराज नहीं हुआ था। न कोई शिकवा था और न शिकायत। लेकिन मेरा दफ्तर था कि सब समझ रहा था–वह सब भी जो मैं नहीं समझ पा रहा था।

बात बॉस तक भी पहुंच ही गयी। एक रोज बुला भेजा। "अग्रवाल जी, मुझसे कोई शिकायत है क्या?" उनकी शालीनता में कोई कमी नहीं थी।

"नहीं तो।" मुझे अचानक भूमिका समझ नहीं आयी थी।

"फिर मैं यह सब क्या सुन रहा हूं?" प्रश्नवाचक बन उन्होंने अपना सारा ध्यान मेरे चेहरे पर केन्द्रित कर दिया था मानो मेरा चेहरा पढ़ रहे हों।

बात अब मेरी समझ में आने लगी थी। बोला, "सर, मैं किसी का मुंह तो बंद कर नहीं सकता। पर सच मानिए, मेरा मन साफ है।"

"मुझे तुमसे यही आशा थी। बैसे तो तुम खुद ही समझदार हो। फिर भी याद दिला दूं कि हमारे देश में झूठा जाति प्रमाण-पत्र बनवाना दंडनीय अपराध है।" उनकी चेतावनी में कहीं ईर्ष्या और आशंका भी थी।

लेकिन मैं था कि एक महान लक्ष्य की दिशा में बढ़ रहा था। चारों ओर बिखरी ये ईर्ष्याएं और आशंकाएं अब दिग्भ्रमित नहीं कर सकती थीं।

मेरे एक सहयोगी महान विचारक और प्रकांड विद्वान थे। उलझन में सदैव मेरे प्रेरणा-स्रोत बनते थे। दफ्तर में दिवाकर जी के नाम से प्रख्यात थे। मैंने उनकी शरण में जाने की ठान ली। वह भी मेरे उद्देश्यों से प्रभावित हुए किंतु मेरे प्रयत्नों से असहमत थे। पूछा, "तुमने 'अग्रवाल' का त्याग कितने समय पूर्व किया था?"

"लगभग चार माह हो गए।"

"इसके बाद किसी और ने यह त्याग किया?"

"अभी तो नहीं।"

"और कोई करेगा भी नहीं।"

"क्यों?" मैं सकपका गया था।

"क्योंकि तुम तो त्याग करके समझ बैठे कि सारा समाज प्रभावित हो गया है। जैसे देश की 90 करोड़ जनता लाईन लगाकर सम्मोहित-सी तुम्हारे पीछे चली आएगी। तुम्हारा अनुसरण करेगी। वह कब से बस तुम्हारा ही इंतजार कर रही थी कि अग्रवाल जी जाति त्यागें तो वे जातिसूचक शब्दों की होली जला दें।" दिवाकर जी ने उलाहना दिया।

"पर व्यक्ति के बदलने से समाज नहीं बदलता क्या? खरबूजे को देखकर ही खरबूजा रंग बदलता है। दीप से ही तो दीप प्रज्वलित होते हैं। व्यष्टि से ही समष्टि में परिवर्तन होता है।" मैंने अब तक जो भारी-भरकम शब्द सीखे-पढ़े थे, बोल दिए।

"ये किताबी बातें हैं, देश और जमाना आगे निकल आया है। हमारे देश का संविधान भी धर्म-निरपेक्ष ही कहलाता है। हां, स्वेच्छा से धर्म-परिवर्तन तो हो सकता है पर जाति-परिवर्तन नहीं। तुम कछुए की चाल पर जीत का भरोसा कर रहे हो। उठो, जनता जनार्दन को झकझोरो। जगाओ, सामाजिक क्रांति लाओ।"

दिवाकर जी के करंट से धमनियों में खून की जगह ओज प्रवाहित हो उठा।

बात गांठ में अटक गयी। समाज में चारों ओर निगाह घुमाई तो पाया कि जातिगत सम्मेलनों की बाढ़ आयी हुई थी। दो दिन पहले 'गूजर सम्मेलन' संपन्न हुआ था। चार दिन बाद 'ब्राह्मण सभा' का महा-अधिवेशन था। दस दिन बाद 'वैश्य कुंभ' आयोजित किया जा रहा था। बहुत-सी जातियों की सभाएं हो चुकी थीं और जिनकी नहीं हो सकी थी उनकी योजनाएं बन रही थीं। सभी जातियां अपने-आपको संगठित कर रही थीं। मजबूत कर रही थीं। पुष्ट कर रही थीं। किसलिए और किसके विरुद्ध, यह शायद उन्हें भी मालूम न था।

इधर दिवाकर जी का इंजेक्शन था कि मेरे अंदर बड़े जोरों से कुलबुला रहा था। सो मैं चार दिन बाद होने वाले महा-अधिवेशन के संयोजक महोदय के पास पहुंच गया। सीधा अपना मन्तव्य बताया और अधिवेशन के मंच से बोलने की अनुमति चाही।

उन्होंने मुझे ऊपर से नीचे तक निहारा। निरीह भाव से बोला, "भाई साहब, आप हमारी एकता में आग लगाने पर क्यों तुले हुए हैं?"

मैं समझाने की मुद्रा में आ गया, "आप मेरी बात तो समझिए। बात यह नहीं है...।"

नेता बनाम अभिनेता

बात सचमुच बहुत गंभीर थी। बहुत ही गंभीर। अभिनेता नेताओं के कार्यक्षेत्र में घुसने लगे थे। सेंध लगा दी थी। अवैध अतिक्रमण हो रहा था। दोनों पर हमले हुए थे। सत्तापक्ष पर भी और विपक्ष पर भी। सारे दिग्गज राजनेता सिर जोड़कर बैठ गए। गहन-गंभीर विचार-विमर्श प्रारंभ हुआ। अनुभवी जन्मजात राजनेता ने उलाहना दिया, "देखिए, ये अभिनेतागण अपने आप तो राजनीति में आए नहीं हैं। इन्हें तो लाया गया है। हमारे ही भाई-बंधु हैं जो इन्हें घसीटकर लाए हैं। अब अपनी ही करनी पर क्या पछताना।"

"जयचंद कब नहीं हुए! कहां नहीं हुए! पर क्या चंद जयचंदों की खातिर हम सारी राजनीति को गंदला होने देंगे? आपने देखा नहीं, एक अभिनेता भरी सभा को कैसे लूटकर ले जाता है। पुराने से पुराना अखाड़ेबाज भी बस टुकुर-टुकुर देखता भर रह जाता है। ऐसे कैसे चलेगी राजनीति!" यह एक उग्रवादी राजनीतिज्ञ थे।

"लूट-खसोट के लिए तो हमारे देश में कानून है। ऐसे लुटेरे अभिनेताओं को क्यों नहीं पकड़वा दिया जाए।" यह सुझाव एक युवा राजनीतिज्ञ का था।

"तुम अभी नये हो। नादान हो। कुछ सीखो। अगर राजनीति में कानून को घसीटा तो कानून राजनीति पर हावी हो जाएगा।" बुजुर्ग राजनेता चहके।

"प्रश्न यह पैदा होता है कि अभिनेता आखिर राजनीति में क्यों आना चाहते हैं। इनको क्या फिल्मों में काम नहीं मिल रहा है?" एक विचारवादी राजनीतिज्ञ ने समस्या की जड़ पकड़ने की कोशिश की।

एक युवा ने तुरंत ही समाधान प्रस्तुत किया, "बहुत ही स्पष्ट है। फिल्मों में भविष्य सुरक्षित नहीं है। कितना भी बड़ा स्टार हो, बुढ़िया जाने पर कोई घास नहीं डालता। लेकिन राजनीति में जितना पुराना चावल हो जाता है, उतना ही कीमती हो जाता है। फिर कोई स्टार अपनी लोकप्रियता का वोट बैंक क्यों न भुनाए।"

"क्यों जी, फिर हम ईंट का जवाब पत्थर से क्यों न दें। हम भी घुस जाते हैं फिल्मों में। देखते हैं फिर नायक-नायिका क्या करते हैं? आजकल चुप होकर बैठने का जमाना नहीं है।" ये उग्रवादी तेवर थे।

"पर फिल्मों में गए और फ्लॉप हो गए तब?" युवा राजनीतिज्ञ को इसकी आशंका ज्यादा जंच रही थी। उसकी कल्पना की रूमानी चोंचबाजी में ये घिसे-पिटे खुरदुरे चेहरे नहीं फिट हो रहे थे।

सभा में कुछ क्षण मौन छा गया। युवा संभावना से किसी को एतराज न था।

"फिर हम अभिनेताओं की राजनीति को ही फ्लॉप कर देते हैं। तभी यह सिलसिला टूटेगा।" उग्रवादी ने नया आयाम दिया।

"फ्लॉप करती है पब्लिक, जनता। हम नहीं। और जनता उनकी पहले से ही फैन हुई बैठी रहती है। फ्लॉप करने से पहले एक बार को उन्हें सत्ता में ले आएगी और फिर पांच साल बाद कहीं जाकर फ्लॉप होने का नंबर आएगा। पांच साल क्या तुम-हम परांठे सेंकेंगे।" बुजुर्ग राजनेता आश्वस्त नहीं हो पा रहे थे।

"और आपने फिल्मों में ट्राई किया तो आपकी यही जनता पहले ही शो में फ्लॉप कर देगी। तीन घंटे भी नहीं लगेंगे।" युवा नेता ने अपनी बात को पानी दिया।

"क्या फिल्में सचमुच राजनीति से ज्यादा रोमांचक होती हैं! आखिर पब्लिक इन्हीं के पीछे इतनी दीवानी क्यों है?" बुद्धिवादी राजनीतिज्ञ ने फिर समस्या के मूल में डुबकी लगाने की चेष्टा की।

"यह सब हमारे सेंसर की कमी है जो फिल्मों को इतना दिलचस्प और भड़काऊ बनने देते हैं कि पब्लिक पगला जाती है। फिल्मवाले वह सब दिखाते हैं जो नहीं दिखाया जाना चाहिए और जनता है कि वही देखना चाहती है जो उसे नहीं देखना चाहिए। बस लट्टू हो जाती है।" अनुभवी राजनीतिज्ञ शायद सबसे ज्यादा दुःखी थे।

"और इधर हम हैं कि गोपनीयता की चादर कसकर ओढ़े हुए हैं। हर पल यह सोचते रहते हैं कि कुछ लीक न हो जाए। कहीं से कुछ दिख न जाए। हर बात में जनता से पर्दा बनाए हैं वरना हम तो वे सीन करते हैं कि फिल्मवाले सोच भी नहीं सकते। पर जब तक हम पर्दा गिराकर अपनी भव्यता और विशालता के दर्शन नहीं कराएंगे तब तक जनता हम पर लोटन कबूतर कैसे होगी?" उग्रवादी ने उलाहना दिया।

"हमारे ऊपर तो कोई सेंसर भी नहीं है। हम अभिनेताओं से आखिर किस बात में कम हैं?" यह युवा वाणी थी।

"आदत से, पूर्व परंपरा से मजबूर हैं। वरना हमारे घोटाले क्या किसी फिल्मी कहानी से कम हैं। फर्क इतना ही तो है कि फिल्मवाले अपने फर्जी घोटालों को पर्दे पर खोल-खोलकर दिखाते हैं, उन्हें नंगा कर देते हैं और हम

असली घोटाले भी दबाते रहते हैं, छिपाते रहते हैं। ऐसे में जनता तो उसी में से पसंद करेगी न जो उसे दिखाया जाएगा। फिर अभिनेता भरी सभा लूटकर न ले जाए तो क्या करे। उन्हें लूटने कौन देता है?" उग्रवादी तैश में था।

"आपका मतलब है कि हम अपने घोटालों को स्वयं पब्लिके-आम कर दें?" व्योवृद्ध राजनेता ने आश्चर्य से पूछा।

"फिर आप देखिएगा कि जनता कैसे आपको सिर पर उठा लेती है। अभिनेता क्या लूट सकेगा आपकी सभा, आप लूट लेंगे अभिनेता को भी। मुझे बताएं आज कोई अभिनेता है जो हर्षद मेहता की सभा को लूटकर ले जाए?"

युवा नेता बुजुर्गवार के सवाल पर भड़क गए। सभी निरुत्तर हो गए। युवा नेता की बात में जान थी। सभी नेता समझ रहे थे कि उनमें प्रतिभा की कोई कमी नहीं है। उन्हीं में ऐसे-ऐसे महान कलाकार भी मौजूद हैं जिनके सामने बड़े से बड़ा स्टार अभिनेता नहीं ठहर सकता। क्या नाटकीयता, क्या रहस्य, क्या रोमांच, क्या खलनायकी, क्या अदायगी, क्या सफाई, क्या षड्यंत्र–हर क्षेत्र में दो कदम क्या, दस-दस कदम आगे हैं लेकिन मुसीबत यह है कि ये अभिनेता अपना कौशल पर्दे के आगे दिखा रहे हैं और उनकी मजबूरी कि उन्हें पर्दे के पीछे रहना पड़ रहा है और उस पर तुर्रा यह कि अपनी उत्कृष्ट कलाकारी दिखाने के लिए पर्दे के आगे भी नहीं आ सकते।

मौन सत्ताभोगी राजनीतिज्ञ ने ही तोड़ा, "भाइयो, हालात का तकाजा समझो। अब अपना पर्दा तो उठाया नहीं जा सकता। हां, अभिनेताओं की कारगुजारियों पर पर्दा डाला जा सकता है। इस दिशा में सही प्रयास होने चाहिए तभी अभिनेताओं की अवैध लूट-खसोट से बचा जा सकता है।"

अतः गहन गंभीर विचार-विमर्श के बाद इस सर्वदलीय अखिल भारतीय राजनीतिज्ञों की सभा में सर्वसम्मति से दो प्रस्ताव पारित किए गए–

- फिल्मों की दिन-रात बढ़ती लोकप्रियता को घटाने के लिए उसमें वह सभी कुछ सेंसर कर दिया जाए जिसे जनता पसंद करती है। इस उद्देश्य से सेंसर को और कड़ा किया जाए। सेंसर बोर्ड को कड़े निर्देश दिए जाएं कि ऐसे सभी सीनों पर निर्दयता से कैंची चला दे जो जनता को आकर्षित करते हैं। इसके लिए वह 'अश्लील', मारधाड़, हिंसा जैसे चालू शब्दों की ओट ले सकता है। यदि वर्तमान सेंसर बोर्ड इसके लिए पूर्ण सक्षम न हो तो उसका पुनर्गठन कर दिया जाना चाहिए।
- भारतीय राजनीति एवं राजनीतिज्ञों को अधिक लोकप्रिय और रोमांचक बनाने के लिए बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों से संबंधित छोटे-छोटे घोटालों का समय-समय पर भंडाफोड़ किया जाना चाहिए। उनके जिक्र को लंबे-से-लंबे समय तक खींचा जाना चाहिए। उसके छोटे-से-छोटे रहस्यों पर से इस तरह से

पर्दा उठाना चाहिए जैसे कोई कैबरे डांसर एक-एक करके कपड़े उतारती है और अंत में किसी कृतज्ञ आयोग से सभी रहस्यों पर कपड़ा डलवा देना चाहिए। इसका क्रम अनवरत रूप से इस प्रकार चलना चाहिए कि संबंधित राजनेता या राजनेताओं की लोकप्रियता में कभी भी गिरावट न आ सके। उनका नाम और मुद्राएं निरंतर समाचार-पत्रों की सुर्खियों में बनी रहें। संवाददाता दुत्कारे जाने पर भी उसके चारों ओर ही डोलते रहने को विवश हो जाएं।

और अब भारतीय राजनीति अपने इस सर्वसम्मत निर्णय के प्रकाश में दिशाहीन होकर भटक नहीं रही है। वह जनता-जनार्दन को अश्लील फिल्मी टैक्स-शुदा मनोरंजन से परहेज करा कर, शालीन, टैक्स-फ्री राजनैतिक मनोरंजन प्रदान करने को निरंतर प्रयासरत है।

वोट-बैंक

मैंने सभी राष्ट्रीयकृत बैंकों की सूची छान मारी थी, लेकिन मुझे वोट-बैंक के पते का उल्लेख कहीं न मिल सका था। समाचारों में इन दिनों वोट-बैंक सुर्खियों में चल रहा था, सो मैंने इस बार इसी बहुचर्चित बैंक से 'डील' करने की ठानी थी, पर बहुत कोशिशों पर मुझे इसकी किसी प्रामाणिक शाखा का पता-ठिकाना नहीं मिल पा रहा था।

जिस वोट-बैंक ने अपने देश के सारे नेताओं और सारी राजनैतिक पार्टियों को अपनी अंगुलियों पर नचा रखा हो उसी का अता-पता और अस्तित्व ढूंढ़ने पर भी न मिल पाए, यह एक गंभीर समस्या थी, अतः इसे हमने एक बुद्धिजीवी मित्र के सामने परोस दी।

सुनकर मित्रवर दो मिनट तक हंसते रहे, मानो मेरी बुद्धि पर तरस खा रहे हों। फिर गंभीरता से मेरी आंखों में झांककर देखा कि कहीं मैं मजाक तो नहीं कर रहा। फिर घोषणा कर दी, "तुम वोट-बैंक से डील नहीं कर सकते।"

"क्यों? मुझमें क्या कमी है?" मैं अचकचा गया।

"क्या तुम अनुसूचित जाति या जनजाति के हो?" उन्होंने प्रश्न दागा।

"नहीं तो।"

"तो क्या मुस्लिम संप्रदाय के हो?" अगला प्रश्न था।

"नहीं।"

"तो फिर तुम्हें वोट-बैंक से क्या लेना-देना! अखिल भारतीय स्तर के तो यही दो प्रसिद्ध एवं पुराने वोट-बैंक हैं, जिनमें तुम्हारा खाता खुल ही नहीं सकता।" बुद्धिवादी मित्र ने जैसे बहुत सरल भाषा में हमें सब कुछ समझा दिया था।

लेकिन हमने भी अपने देश का संविधान पढ़ रखा था, इसलिए रुका नहीं गया, "यह तो सरासर देश के संविधान के विपरीत है कि अपने देश में कोई ऐसा भी बैंक हो जो किसी खास जाति या संप्रदाय विशेष से 'डील' करे।"

"नहीं, आप अपना नया वोट-बैंक खोल सकते हैं। स्थानीय और प्रादेशिक स्तरों पर अनेक नेताओं और अनेक जातियों के वोट-बैंक खुले हैं। अपने देश में इसकी खुली छूट है।" मित्रवर ने हमारी जिज्ञासा शांत की।

"पर इसका कुछ अता-पता तो बताइए?" हमारा मूल प्रश्न अभी तक अनुत्तरित था।

"इनका पता आपको नेताओं और उनके कार्यकर्ताओं से प्राप्त होगा। वही इसका संचालन करते हैं और वही इसका हिसाब-किताब रखते हैं।" बुद्धिजीवी ने हमें फिर भूल-भुलैया में डाल दिया। सीधे-सच्चे उत्तर से बुद्धिजीवियों का शायद जन्मजात का बैर होता है।

मैंने फिर सीधा सवाल किया–"पहेलियां न बुझाइए। मुझे तो सिर्फ एक वोट-बैंक का पता बता दीजिए, जहां मैं अपनी रकम डिपोजिट करा सकूं।"

मित्रवर फिर ठहाका मारकर हंसे, "वोट-बैंक नोटों से नहीं, वोटों से 'डील' करते हैं।"

"पर वोट तो चुनाव के समय दी जाती है, बैलेट बॉक्स में।"

"जी हां, वही वोटें इन बैंकों में सालों-साल डिपोजिट होती रहती हैं, जो चुनाव के समय इन बैंकों से निकालकर बैलेट बॉक्स में डाल दी जाती हैं।" बुद्धिजीवी ने और स्पष्ट किया।

"पर कोई डिपोजिटर अपनी वोट चुनाव से पहले ही बैंक से वापस लेना चाहे तो?" मेरे जिज्ञासु मस्तिष्क में प्रश्न उभर रहे थे।

इस प्रश्न पर मित्रवर कुछ खो-से गए। फिर सोचते हुए बोले, "ले तो सकता है, पर इसके लिए उसे उस नेता के कोप का भाजन बनना पड़ेगा जिसके खाते में उसकी वोट जमा की गयी थी।"

"यानी वोट-बैंक में डिपोजिट भी अपने खाते में नहीं, किसी नेता के खाते में किया जाता है।" इस बार चौंकने की हमारी बारी थी।

"नहीं, किसी कार्यकर्ता या किसी पार्टी के खाते में भी डिपोजिट करा सकते हो।" बुद्धिजीवी हमारे चौंकने पर मुसकरा रहे थे।

"लेकिन अपने खाते में जमा नहीं करा सकते और वापस लेने पर कोप भी सहना होता है।" बैंक की यह अनोखी रहस्यात्मक कार्यविधि अभी पूरी तरह अपने पल्ले नहीं पड़ रही थी।

"अब आप ठीक समझ रहे हैं।" मित्रवर ने संतोष की सांस ली।

"पर यह तो सरासर मुठमर्दी हुई। वोट हमारी है। हमारी राय पर निर्भर है। वह समय-समय पर बदल भी सकती है।" हम अभी तक भी नासमझ थे।

"वोट-बैंक ऐसे ढुलमुल राय वालों के लिए नहीं होते। वहां तो पुख्ता राय वाले ही अपना जमा-खर्च रखते हैं।" मित्रवर ने शंका समाधान की।

"यानी वोट-बैंक में करंट खाता नहीं खुलता, केवल 'फिक्स-डिपोजिट' होता है।" हम उनकी बात को इसी प्रकार समझ पाए थे। मित्रवर ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

लेकिन प्रश्न थे कि हमारे उर्वर मस्तिष्क में मशरूम की तरह पैदा हो रहे थे, "फिर तो सूद भी ज्यादा मिलता होगा?"

"क्यों नहीं, पर सूद नेता की साख पर निर्भर करता है। शराब की बोतलें, कोटा, परमिट, लाइसेंस, मनचाही पोस्टिंग, बच्चों के दाखिले, थाने की कृपादृष्टि और कभी-कभी तो सरकारी नौकरी तक सूद में लोग झटक लेते हैं।"

विविध प्रकार के इन सूदों का नाम सुनकर हमारे मुंह में भी पानी आ गया। मित्र के और निकट सरकते हुए मुंह से निकल ही गया, "क्या सूद में चुनाव का टिकट भी मिल सकता है?"

बुद्धिवादी के चेहरे पर रहस्यमय मुसकान खेल गयी, "क्यों नहीं, क्यों नहीं, पर इसके लिए केवल अपने डिपोजिट से काम नहीं चलेगा। सारे घरवाले, रिश्तेदार, नातेदार, मित्र, बिरादरीवाले, जातिवाले और प्रभाव-क्षेत्र के डिपोजिट इकट्ठे करके लाने होंगे और उनकी कम-से-कम छः अंकों में संख्या करके शीर्षस्थ नेताओं को प्रभावित करना होगा।"

वोट-बैंक का रहस्य अब हम पर खुलने लगा था लेकिन एक शंका फिर भी सिर उठा रही थी, "पर मैंने समाचारपत्रों में पढ़ा है कि वोट-बैंक बहुत जल्दी टूटते और बनते रहते हैं।"

"यह रिस्क तो है। एक अनुसूचित जाति का वोट-बैंक सिर्फ इसलिए टूट गया, क्योंकि उसके एक नेता अपने एक घंटे के भाषण में डॉ॰ अम्बेडकर का नाम लेना भूल गए थे। एक और किसान नेता का वोट-बैंक इसलिए सरक गया क्योंकि उन्होंने मौजूदा सरकार को किसान-विरोधी करार देते हुए कुछ मोटी-मोटी गालियां नहीं दी थीं। वोट-बैंक टूटने और बनने के हजारों नहीं, लाखों कारण हो सकते हैं। लेकिन जाने-माने नेता इस विषय में बड़ी सावधानी और सूझ-बूझ से काम लेते हैं।" मित्रवर ने हमें समझाया था।

वोट-बैंक अब शायद कुछ-कुछ अपनी समझ में आने लगा था। इसलिए एक अंतिम प्रश्न मैंने और पूछ डाला, "अगर मैं अपना ही वोट-बैंक खोल लूं तो?"

"क्यों नहीं! वित्त मंत्री डॉ॰ मनमोहन सिंह ने निजी क्षेत्रों में बैंक खोलने की खुली छूट दे दी है। अब आपको कौन रोक सकता है। किसी वोट-बैंक का पता ढूंढ़ने के झंझट से भी बच जाओगे।"

"पर निजी क्षेत्रों के बैंकों के लिए तो सौ करोड़ की धनराशि जुटाना अनिवार्य है।"

"वोट-बैंक के लिए छह अंकों की वोटों से ही काम चल जाएगा। इतनी वोटों से तुम राजनैतिक सौदेबाजी कर सकोगे।" कहकर मित्रवर ने पूर्ण आश्वासन से मेरी पीठ ठोंक दी।

हमने अंगुलियों पर छह अंकों को गिना तो गिनती बस लाखों पर जाकर रुक गई। नब्बे करोड़ की जनता में लाख। यानी नौ सौ में से एक आदमी। क्या हम नौ सौ में से एक आदमी को भी बेवकूफ नहीं बना सकते। हमारे हौसले बुलंद हो गए। हमें लगा कि वोट-बैंक तो चुटकी बजाते ही खोला जा सकता है।

और मैंने अपने संयुक्त परिवार की ग्यारह वोटों की सुदृढ़ नींव पर एक नये वोट-बैंक की आधारशिला रख दी है। मेरी योजना है कि इसे अपने मोहल्ले, वार्ड, नगर, जिले एवं प्रदेश से गुजारता हुआ राष्ट्रीय, और यदि संभव हुआ तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक ले जाऊंगा।

हाय रे नुकसान ! वाह रे नुकसान !

जीवन में जो बात पानी पिला-पिलाकर मारती है, वह है-घर बैठे-बिठाए का नुकसान। यह कमबख्त कहीं भी हो जाता है, कभी भी हो जाता है, किसी को भी हो जाता है, कैसे भी हो जाता है। मुसीबत तो यह है कि यह नफा होने से पहले भी हो जाता है। नफे को हाथ में आने से पहले ही फिसला ले जाता है-बंधी मुट्ठी से बालू के रेत की तरह।

रामलाल वर्मा ने अपने इकलौते चश्मोचिराग को विदेश में पढ़ाया। दिल खोलकर परवरिश की। दोनों हाथों से खर्चा किया। तराश-तराशकर हीरा बना दिया। दाम निकल आए। जौहरियों ने पहचाना और दरवाजे पर दस्तक देने लगे। सेठ दमड़ीमल अपनी कन्या के लिए दस लाख खर्च करने को तैयार थे। सेठ हीरामल ऐसे सुयोग्य और सुशील वर को बारह पेटियों में भी सस्ता समझ रहे थे। वर्मा जी ने मोटा-मोटा हिसाब फैलाया, पांच सौ प्रतिशत का नफा था। बांछें खिल गयीं। उसी वर्ष लड़का छुट्टियों में घर लौटा तो आशीर्वाद के लिए विदेशी बहू सहित पांवों में झुक गया। वर्मा जी से हाथ न उठाते बना, न गिराते। लगा, जैसे किसी ने दस लाख की चपत लगा दी हो। बैठे-बिठाए दस लाख का नुकसान हो गया। जिंदगी भर इस नुकसान की मार से तिलमिलाते रहे, नसीबों को कोसते रहे।

चौबे जी के साथ तो और भी बुरी गुजरी। बारह बृहस्पतिवार, आठ सोमवार और चौदह मंगलवार करके और ग्यारह महात्माओं से आशीर्वाद लेकर एक सौ दस रुपये का लाटरी का टिकट खरीदा था। पूरे साढ़े सात लाख का इनाम था। कोई शक-शुबहा ही नहीं छोड़ा था। चारों घर चौकस कर लिये थे। सारे शकुन-अपशकुन विचार लिये थे। पर नुकसान होना था सो होकर रहा। न जाने कौन-सी बिल्ली ने छींक दिया था कि दस रुपये वाला इनाम भी नहीं लगा। बैठे-बिठाए साढ़े सात लाख रुपये घट गये।

दिवाकर जी तो रोज-रोज के इस नुकसान से आजकल बहुत ही परेशान हैं। नफा ठेकेदार का रूप लेकर रोज-ब-रोज उनकी टेबिल तक आता है। बीस साल के खुर्राट अनुभव से वह एक ही नजर में पहचान लेते हैं कि कितने की

पुड़िया है। चाल-ढाल, पहनना-ओढ़ना, बनाव-शृंगार, बोलचाल का एक-एक अंदाज उनके नफे की मात्रा निर्धारित करता है। ऊपर से दिवाकर जी की वाक्-पटुता। अधपके नफे को भी पकाकर रख दे। पर हाय रे बॉस! उनके कमरे में एक बार जो घुस जाता है, पलटकर ही नहीं आता। पिछले दस महीनों में बॉस दिवाकर जी को साढ़े बासठ हजार रुपये की चोट दे चुके हैं। ऐसा ही चलता रहा तो हो ली सरकारी नौकरी। कोई कब तक नुकसान उठाएगा जी!

लेकिन आदमी कितना मजबूर है, कोई यह सेठ छगनीमल से पूछे। नामी स्टॉक-ब्रोकर दम्बे जी ने टिप दी थी : 'पाताल-लोक' का शेयर साढ़े सात हजार की ऊंचाई छुएगा। सेठ छगनीमल कैसे पीछे रह जाते! पूरे दो करोड़ अड़ा दिए! पर शेयर था कि छः हजार पर जाकर अटक गया, उठने का नाम ही न ले। हर्षद मेहता कांड जो हो गया था। बारह करोड़ का मुनाफा तीन करोड़ में सिमटकर रह गया। इस नौ करोड़ के भारी-भरकम नुकसान पर सेठ जी को नौ दिन नींद न आयी थी। नींद की गोलियां भी बेअसर हो गयी थीं।

बीच चौराहे पर एक्सीडेंट हुआ था। कार ने पीछे से स्कूटर को ठोंक दिया था। ड्यूटी पर तैनात सिपाही लपक लिया। उसके जेहन में कम-से-कम सौ का नोट बना था। भीड़ इकट्ठी होने लगी थी। पर कार चालक डी० एस० पी० साहब के साले का भी साला निकला। भीड़ को धकियाकर सिपाही मन मसोस-कर लौटा आया। उसका आया-अवाया नीला नोट हाथ से निकल गया था। रात को सिपाही ने बीस रुपये का अद्धा पीकर गम गलत किया, तब जाकर इस नुकसान की कुछ भरपायी हो सकी।

और गैंदामल के केस में तो इस नुकसान ने श्रीमती जी के उलाहने की भी परवाह नहीं की। 'आज तक एक साड़ी तो अपनी कमाई की बनवा नहीं सके' के व्यंग्य-बाण ने जो उनका पौरुष खौलाया तो सीधे ताश की चौकड़ी में जा बैठे। मन-ही-मन प्रण किया कि आज बावन पत्तों से पूरे छः सौ रुपये लेकर ही उठूंगा और श्रीमती जी के लिए मनभावनी साड़ी लाकर उस जानलेवा उलाहने को हमेशा-हमेशा के लिए धो दूंगा। पर दिन क्या, सारी रात भी लग गयी–पर दो सौ से ज्यादा न बन पाए। पत्ता आ-आकर भी लौट जाता। चार सौ रुपये के लगभग नुकसान बराबर ही बना रहा और हार-थककर अगली सुबह इस नुकसान में ही उठना पड़ा। न किस्मत ने शरम की, और न ही पत्तों ने।

अरे, आदमी तो आदमी, सरकार को भी नहीं माफ करता यह नुकसान। पिछले वर्ष एक सरकारी बजट में आठ सौ हजार करोड़ रुपये के नफे का अनुमान था। इस नफे में सुना है दो सौ करोड़ रुपये का नुकसान रह गया।

लगता है यह सारा संसार दिन-रात नुकसान पर नुकसान झेले जा रहा है।

बाढ़ मंत्रालय

प्रदेश में बाढ़ के व्यापक महत्त्व को स्वीकारते हुए नये मुख्यमंत्री ने एक स्वतंत्र 'बाढ़ मंत्रालय' की घोषणा की थी। विपक्ष को भी अपना रोल अदा करना था, सो उसने आपत्ति ठोंक दी थी : "प्रदेश में नदियां ही नहीं हैं तो फिर बाढ़ मंत्रालय क्यों?" परंपरानुसार सचिव बाढ़ मंत्रालय ने स्पष्टीकरण दिया, "नदी न सही, नहरें तो हैं। उनमें तो बाढ़ आ ही सकती है।" यह सारी सुनियोजित लोकतांत्रिक व्यवस्था सुचारू रूप से संपन्न हो जाती, किंतु इसकी अबाध प्रक्रिया में कोई छींक गया। छह महीने बीतने पर भी प्रदेश में कहीं कोई बाढ़ नहीं आयी। शायद बाढ़ मंत्रालय की स्थापना से रुष्ट हो, बाढ़ ने ही हड़ताल कर दी थी।

छह महीने बीतते-बीतते सचिवालय में कानाफूसी प्रारंभ हो गयी। बाढ़ मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारियों की मौज-मस्ती और आरामतलबी सहयोगी विभागों को फूटी आंख भी नहीं भा रही थी। कोई काम न धाम और ठाट पूरे। मरोड़ में कोई कमी नहीं। उनकी अफसरानी ईर्ष्या जाग उठी। बाढ़ मंत्रालय पर अंगुलियां उठायी जाने लगीं तो बाढ़ सचिव भी तंद्रा से जागे। हालात का जायजा लिया और लंबे खुर्राट अनुभव के बल पर बाढ़ की हड़ताल तुड़वाने की ओर अग्रसर हुए।

प्रदेश की नहरों के किनारे बसे गेस्ट-हाउस वाले शहरों का व्यापक दौरा तैयार किया गया। परिवार को पिकनिक के लिए राजी किया गया, साली और सलहजों को प्यार और मनुहार से आमंत्रित किया गया और निकल पड़े बाढ़ मंत्रालय की आबरू बचाने।

सारा बाढ़ मंत्रालय छह महीने बाद ऐसा जागा जैसे कुंभकरण उठ बैठा हो। प्रदेश-भर के दफ्तरों में रंगाई-पुताई होने लगी। फाईल-कवरों की धूल झाड़ दी गई। कर्मचारियों में चुस्ती आ गयी, फुर्ती आ गयी और दायित्व-बोध न केवल पैदा हो गया वरन् तुरंत जवान भी हो गया। प्राईवेट धंधे कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिए गए और दफ्तरों में नियमित उपस्थिति भरी जाने लगी।

विभाग का हर कर्मचारी जिज्ञासु था कि देखें तो उनके महाअनुभवी सचिव महोदय बाढ़ की हड़ताल कैसे तुड़वाते हैं।

लगभग एक माह के व्यापक दौरे के बाद सचिव महोदय वापस मुख्यालय लौट आए। घर-परिवार और साली-सलहजें बहुत प्रसन्न थीं। पिकनिक बहुत सफल रहा था। उन्होंने रिपोर्ट बनाई–'निकट भविष्य में भयंकर बाढ़ की आशंका है। यदि बचाव के सभी कदम तुरंत युद्ध-स्तर पर नहीं उठाए गए तो भारी विनाश को नहीं रोका जा सकेगा।'

रिपोर्ट अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी, साथ ही गोपनीय भी। अगर कहीं बाढ़ को लीक हो जाती तो वह समय से पहले आ जाती। या फिर आना ही स्थगित कर देती। सारी तैयारियां धरी-की-धरी रह जातीं। अतः सचिव महोदय स्वयं इसे लेकर मंत्री महोदय के सम्मुख उपस्थित हुए। पढ़कर मंत्री महोदय प्रश्नाकार बन गए। मंत्रालय नया था अतः इसकी योजनाओं का पूर्वानुभव न था। सचिव महोदय ने सुझाया, "सर, हालात बहुत गंभीर है। आपको तुरंत मुख्यमंत्री से वार्ता करनी चाहिए। वह केंद्रीय सरकार से पता लगाएं कि प्रदेश को इस संभावित विनाश से बचाने के लिए कितना अनुदान प्राप्त कर सकेंगे। तभी मैं अनुमानित बजट बना सकूंगा।"

मंत्रालय जरूर नया था, पर मंत्री महोदय पुराने थे। अनुभवी खिलाड़ी थे। खेले-खाए थे। उन्होंने सचिव महोदय की प्रदेश-चिंता के विराट महत्त्व को भांपा, आंका, सराहा और मुख्यमंत्री की ओर दौड़ लिये।

छह महीने पहले बोए मंत्रालय पर फल लगते देख मुख्यमंत्री जी सचेत हो गए। बाढ़ कैसे आ रही है, किधर से आ रही है, क्यों आ रही है, कौन ला रहा है आदि निरर्थक प्रश्नों से उनको कोई सरोकार न था। जो आम खाने में विश्वास रखते हैं वे भला पेड़ क्यों गिनें! उनका कर्तव्य था आती हुई बाढ़ को रोकना। उसकी विनाशलीला से देश-प्रदेश की रक्षा करना। जनता के जान-माल की हिफाजत करना। उनकी धमनियों में दायित्व-ओज बहने लगा। तुरंत प्रेस कांफ्रेंस बुलवाई गई और प्रदेश के सीमित अल्प साधनों से चार सौ करोड़ की धनराशि बाढ़ में झोंकने की घोषणा कर दी। साथ ही केंद्र से छह सौ करोड़ की सहायता राशि की मांगें पेश कर दी गयीं।

संभावित बाढ़ नियंत्रण की युद्ध स्तरीय कार्यवाहियां चालू हो गईं। अब यह फाइल सरकार की सबसे महत्त्वपूर्ण फाइल हो गई थी जो मुख्यमंत्री, बाढ़ मंत्री और बाढ़ सचिव से ही दिन-रात चिपटी रहती थी। इससे नीचे यह फाइल उतरना जानती ही न थी। आखिर को अब यह पूरी एक हजार करोड़ की फाइल जो बन गई थी।

मुख्यमंत्री जी से आजकल केंद्र के मधुर संबंध न थे। छत्तीस का आंकड़ा चल रहा था। अतः केंद्र सीधे-सीधे न कोई सहायता राशि देने वाला था और

न कोई अनुदान। उसने गंभीर होकर दो बिंदुओं पर विस्तृत रिपोर्ट मांग ली– (1) बाढ़ से कितना जन-जीवन प्रभावित होगा? (2) यह बाढ़ उसका कितना वोटर बहाकर ले जा सकती है? सर्वज्ञानी बाढ़ सचिव को बाढ़ की तरह इन प्रश्नों का भी पूर्वानुमान था। वह पहले से ही पूरी तैयारी में थे। उन्होंने तुरंत उत्तर पठाया : (1) एक लाख करोड़ की विनाशलीला संभावित है। (2) पूरे बारह सांसद बहाकर ले जा सकती है।

केंद्र पर व्यापक वांछित प्रतिक्रिया हुई। दूरदर्शन पर बाढ़ सहायता कोष खोलने की घोषणा कर दी गई और हैलीकॉप्टर को संभावित आपातकालीन उड़ान के लिए तैयार खड़े रहने के आदेश प्रसारित कर दिए गए।

किंतु संभावित बाढ़ थी कि उसका अभी भी कहीं कोई पता-ठिकाना नजर नहीं आ रहा था। उसकी हड़ताल बाजाब्ता जारी थी।

इधर बाढ़ सचिव निरंतर चिंतातुर थे। समय के साथ-साथ दुबलाए जा रहे थे। दौरा उन्होंने किया था। बाढ़ को आते हुए भी उन्होंने ही देखा था। उसको थामने की जिम्मेदारी भी उनकी ही थी। अगर तैयारियों से पहले ही आ गयी तो सारा मंत्रालय ही बहाकर ले जाएगी। अतः बाढ़ नियंत्रण कक्षों की विस्तृत योजना तैयार कर दी गई। दो सौ करोड़ का नावों का ठेका छोड़ दिया गया। प्रेस और मीडिया को आवश्यक हिदायतें दे दी गयीं। फोटोग्राफरों का चयन कर लिया गया और बाढ़ की चपेट में आनेवाले लोगों की भोजन व्यवस्था सुदृढ़ कर दी गई। कहीं कोई चूक न रह जाए इसलिए बाढ़ नियंत्रण कक्षों की कार्य-प्रणाली की देखरेख के लिए एक उच्च स्तरीय समिति का गठन भी कर दिया गया। नावों का ठेका जिसे दिया गया, वह मुख्यमंत्री का जिगरी था। भोजन की व्यवस्था जिसने संभाली थी, वह पिछले दो साल से बाढ़ मंत्री के घर के चक्कर लगा रहा था। जूते उठाने से लेकर तेल की मालिश तक करता था। हां, बाढ़ सचिव का कोई अपना न था। उनकी गीता के श्लोक में पूर्ण आस्था थी– 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्'। इस युद्धस्तरीय बचाव में जो धन का सदुपयोग हुआ, उसमें मुख्यमंत्री और बाढ़ मंत्री तो क्या, सारे प्रदेश मंत्रिमंडल की सिफारिशें छक गयीं। सभी गंगा नहा लिये। जन प्रतिनिधियों ने जी भरकर जन-अनुग्रह धोए। कई मंत्रियों के निर्वाचन क्षेत्र निश्चित हो गए। गढ़ सुदृढ़ हो गए। विधायकों ने अपना आगामी निर्वाचन सुरक्षित कर लिया। बाढ़ सचिव की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी।

लेकिन बाढ़ फिर भी नहीं आयी।

हार-थककर बाढ़ सचिव ने सिंचाई सचिव को सपरिवार रात्रि-भोज पर आमंत्रित किया। एक वरिष्ठ सहयोगी के निमंत्रण को ठुकराने का कोई प्रश्न ही न था। बड़े अनौपचारिक परिवेश में यह रात्रि-भोज मंथर गति से बढ़ निकला।

सोफ्ट और हार्ड ड्रिंक्स के बीच पहले पारिवारिक चर्चा हुई, फिर प्रादेशिक हालात समझे-बूझे गए। फिर राजनैतिक समझ का आदान-प्रदान हुआ और फिर प्रशासनिक उठा-पटक को नापा-तोला गया। इस प्रकार वार्ता का यह क्रम जब अनौपचारिकता की सीमाएं लांघता हुआ गाली-गलौज की आत्मीयता पर उतर आया तो बाढ़ सचिव ने उलाहना दिया-'बांधों का पानी इस बार किसी को दहेज में देना है क्या? इकट्ठा ही करे चले जा रहे हो।'

"तुम्हें चाहिए तो तुम ले लो। मुझे क्या अचार डालना है!" सिंचाई सचिव भी बहक रहे थे।

"तुम छोड़ोगे तभी तो लूंगा न! तुम्हारे जी से तो छूट ही नहीं रहा है। सांप की तरह कुंडली मारकर बैठे हो।"

"तुम भी क्या याद रखोगे किस यार से पाला पड़ा है। तुम्हें दिया और सारा का सारा दिया।" सिंचाई सचिव अपने वरिष्ठ सहयोगी पर न्योछावर हो गए।

समझदार आदमी वह जो खतरे को जागते हुए झेले, सोते हुए नहीं। बाढ़ को निश्चित उपयुक्त समय पर आने के लिए निमंत्रित किया गया था। और सचमुच जब प्रदेश की नहरों में बाढ़ आयी तो बाढ़ सचिव नहा-धोकर चुस्त-चौकस अपने मंत्रालय में जमे थे।

सारा कार्य रंगमंच के पूर्व-निर्धारित संवादों की तरह सुचारू रूप से संपन्न हुआ। बाढ़ निश्चित निर्धारित स्थलों पर ही आयी। हैलीकॉप्टर अविलम्ब उड़ा। प्रधानमंत्री के बाजू मुख्यमंत्री सुनिश्चित स्थान पर ही बैठे। दूरदर्शन ने पूरा कवरेज दिया। बाढ़ आने के पांच मिनट के अंदर लहलहाता हुआ पानी, डूबती बस्तियां, भीगे खेत-खलिहान, छत और नावों पर चढ़े लोग तो क्या, सारे सहायता कार्यक्रम तक दिखा दिए गए। प्रेस और मीडिया भी पीछे नहीं रहा। उसने मुखपृष्ठ के साथ-साथ बैक पृष्ठ तक रंग दिया। चार-चार रंगों का प्रयोग किया। सारे विज्ञापन अंदर के पृष्ठों पर धकेल दिए गए। कुछ ने तो पूर्व मुद्रित विशेष परिशिष्ट तक निकाल डाले। यही समझ नहीं आ रहा था कि बाढ़ का रंग ज्यादा है या बाढ़ नियंत्रण का। इतनी नियंत्रित होकर तो बाढ़ आज तक नहीं बही थी।

सारे देश-प्रदेश बाढ़ मंत्रालय का लोहा मान गया। इतनी जबरदस्त संभावित विनाशलीला बाढ़ मंत्रालय के चंगुल में कालिया सांप की तरह फंसी रह गयी थी। जन-जन बाढ़ मंत्रालय का आभारी हो उठा था और बाढ़ सचिव की सूझ-बूझ का कायल।

सुना है, बाढ़ मंत्रालय की इस अद्भुत, अभूतपूर्व, चहुंमुखी सफलता से उत्साहित हो देश की अन्य प्रदेश सरकारें भी अब बाढ़ मंत्रालय की स्थापना करने जा रही हैं।

अच्छा पड़ोस

श्रीमती जी की जिद थी कि अबकी बार नये किराये के मकान में चाहे जो हो या न हो, 'अच्छा पड़ोस' जरूर होना चाहिए। अर्धांगिनी की इच्छा के आगे हम नतमस्तक हो गए, सभी को हो जाना चाहिए। कहते हैं घर घरवाली से ही होता है, तो फिर पड़ोस पड़ोसन से हुआ। यानी पड़ोसन अच्छी तो पड़ोस अच्छा। सो साहचर्या का भावार्थ मनन कर हम वांछित खोज में लग गए।

प्रॉपर्टी डीलर ने जब नये मकान की सारी खूबियां विस्तार से गिनानी प्रारंभ कीं तो हमने टोककर पूछा, "पड़ोस कैसा है?"

"फर्स्ट क्लास, अल्ट्रा मॉडर्न।" प्रॉपर्टी डीलर चहक पड़ा।

"मिलवा सकोगे?" मैं कोई रिस्क नहीं लेना चाहता था।

अर्धांगिनी के कार्य में कोताही बरतना मेरे स्वभाव से परे था।

"क्यों नहीं, आपको वहीं ठंडा पिलवाऊंगा।" डीलर ने आस्तीनें चढ़ा लीं।

मकान पर पहुंचकर डीलर ने सुझाव दिया, 'पहले मकान देख लें, फिर पड़ोस।'

पर मैं था समय के दुरुपयोग का सख्त दुश्मन, अतः सुझाव को संशोधित कर दिया, "पहले पड़ोस, फिर और कुछ।"

डीलर ने पड़ोस की घंटी दबा दी। अंदर से सौंदर्य प्रतियोगिता वाली मंथर गति से चलती हुई एक महिला सामने आ खड़ी हुई, "कहिए?"

अब भला कहने-सुनने को बचा ही क्या था। कुछ काट-छांट के साथ फिल्म की कोई नयी हीरोइन डांस सीन की वेशभूषा में मेरे सामने खड़ी थी। ऐसे मौकों पर मेरा स्वभाव और आदत देखने की रही है, कहने की नहीं। कहने की आदत को अभी डवलप करना पड़ेगा, इसलिए कहने की औपचारिकता डीलर ने निबाही, "ये आपके नये पड़ोसी हैं। एक गिलास पानी मिलेगा?"

उस महिलाश्री ने अभिनंदन में दोनों हाथ जोड़ दिए और रस टपकाते शब्दों में कहा, "अंदर आ जाइए।"

मैं सम्मोहित-सा डीलर के साथ पीछे-पीछे हो लिया। एक सजे हुए ड्राइंगरूम में हमें बैठाया गया। फिर रस टपका, "आप पेप्सी लेंगे या कोला?"

अब तक मैं शायद कुछ बोलने लायक हो चला था। शिष्टाचारवश निकला, "जी, पानी।"

"यह भी पानी ही तो है। आप अपनी चॉयस बताएं?" मैं उनकी तर्क-शक्ति का कायल हो गया।

"कुछ भी चलेगा।" बस, यही मुंह से निकल सका।

वह उठीं और फ्रिज से ठंडी पेप्सी खोलकर मुझे पकड़ा दी। मैं उनकी गतिविधियों का सूक्ष्म अन्वेषण कर रहा था। वह सामने के सोफे में धंस गई थीं। उन्होंने पूछा, "आप क्या करते हैं?"

मन में आया, सच बोल दें कि झक मारते हैं किंतु साथी डीलर की व्यावहारिक सूझ-बूझ ज्यादा थी। उसने तुरंत उत्तर दिया, "बहुत बड़े राइटर हैं।"

"राइटर!" महिला के चेहरे पर मुस्कान खेल गई, "मुझे भी पढ़ने का शौक है।"

गनीमत है। मुझे डर था कि वह यह न कह दे कि मुझे भी लिखने का शौक है। आज हर गली के हर तीसरे मकान में एक राइटर है और रीडर पूरे मोहल्ले में एक नहीं मिलता। मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई कि यह सुदर्शना पाठक ही थीं, लेखिका नहीं।

संभावित पड़ोसन का प्रथम साक्षात्कार इतना ही पर्याप्त था। शादी से पूर्व भावी धर्मपत्नी से साक्षात्कार की भी इससे ज्यादा अनुमति नहीं मिली थी। मान-मर्यादा आड़े आ गई थी। इतने से साक्षात्कार में हमने भावी धर्मपत्नी को पास कर दिया था, तो फिर भावी पड़ोसन को क्यों नहीं पास किया जा सकता था। पड़ोसन शत-प्रतिशत अंकों में उत्तीर्ण हुई थी। बाहर निकलकर प्रॉपर्टी डीलर ने पूछा, "अब मकान देख लिया जाए?"

"कोई जरूरत नहीं है। मुझे मकान पसंद है।" मैंने अपना निर्णय सुना दिया। डीलर ने अवाक हो मुझे निहारा। अब वह बेचारा क्या समझता और कैसे समझता कि मैं अपनी श्रीमती जी का कितना आज्ञाकारी हूं।

अगले रविवार से पहले ही मैंने अपनी श्रीमती जी को उनके चिर-प्रतीक्षित अच्छे पड़ोस वाले नवगृह में प्रवेश करा दिया।

अगले तीन दिन मैं अपने कानों में रुई ठूंसे रहा। श्रीमती जी की बड़बड़ाहट, उठक-पटक और हाथ-पैरों की उछाल और रौद्र मुखमुद्रा ने मुझे आभास कराया था कि मेरी धर्मपत्नी को अच्छे पड़ोस की अभिलाषा में इस नवगृह में बहुत कुछ त्याग करना पड़ रहा था। लेकिन मैं तो कथाकार था। अच्छे पड़ोस के क्लाईमेक्स पर भरोसा करके सारा कथा-सूत्र दांव पर लगा बैठा था।

कहीं क्लाईमेक्स से पहले ही कहानी बंद न हो जाए, इस डर से मैंने अर्धांगिनी को पड़ोस से परिचित करने की औपचारिकता निभाने का प्रस्ताव रखा, जो सहर्ष स्वीकृत हुआ।

घर से निकलने से पूर्व मैंने कानों में ठूंसी हुई रुई निकाल दी थी और एक लिफाफे में अपनी ताजा लिखी पुस्तक छिपा ली थी। मेरी कल्पना में यह दोनों बातें वांछित थीं।

कॉलबैल दबाते ही वही सुदर्शना अवतरित हुईं। मुझे देखते ही होंठों पर मुसकान खेल गई, "अरे, आप! आइए, आइए...अंदर आइए।"

हमने अंदर प्रवेश किया। सहचरी तीखी निगाहों से नयी पड़ोसन को देख रही थीं। उनकी भृकुटी पर बल आ गए थे। हमने तपाक से परिचय कराया, "यह मेरी धर्मपत्नी हैं।"

"नमस्कार...बैठिए न। कब शिफ्ट किया?"

पड़ोसन के हर शब्द में मिसरी घुली थी। उनका शिष्टाचार टी.वी. सीरियल के कुशलतम शिष्टाचारों को मात दे रहा था।

जब तक श्रीमती जी की भृकुटी न गिर जाए, बातों का सूत्र मैंने अपने ही हाथ में रखना श्रेयस्कर समझा था। अतः उत्तर दिया, "अभी तीन दिन पहले ही आए हैं। गृहस्थ के सामान को यथास्थान लगाने में ही इनका सारा समय निकल गया। इससे पहले आपकी ओर न आ सके।"

"लगता है आपका स्वेटर तो भाभी जी ने अपने हाथों से बुना है। बड़ी अच्छी बुनाई डाली है।"

कहकर उस रूपमयी ने मेरे स्वेटर पर हाथ डाल दिया। गिरती भृकुटी फिर तन गई।

मैंने हालात की नजाकत को पहचाना। खतरे का आभास पाया और सुरक्षात्मक हो चला, "मेरी श्रीमती हस्तकला में सिद्धहस्त हैं।"

"एक साहित्यकार और एक कलाकार। क्या जोड़ी है! आपके तो ठाट हैं, भाभी जी!"

सुदर्शना मेरा स्वेटर छोड़कर श्रीमती जी की ओर मुखातिब हो गई थीं। मैंने संतोष की सांस ली। कुछ भी कहो, नयी पड़ोसन मृदुभाषिणी ही नहीं, व्यवहार-कुशल भी थीं। श्रीमती जी के माथे के बल धीरे-धीरे गायब हो गए थे। अतः अब वार्ता-सूत्र उन्हीं के हाथों में चले जाना उचित था। मैं नहीं जान पाया कि यह सूत्र कब और कैसे श्रीमती जी को सारे मकान में घुमाने के साथ-साथ किचन का विस्तार से परिचय भी करा लाया था। फलस्वरूप जब हम अच्छे पड़ोस से औपचारिक विदा ले रहे थे तो श्रीमती जी के हाथ पड़ोसन के हाथों में थे और होंठों पर संतोषजनक मुसकान खेल रही थी। मैंने मौका चूकना ठीक

नहीं समझा। मौका-ए-गनीमत समझ अपना छिपाया हुआ व्यंग्य-संग्रह अच्छे पड़ोस के हाथ में थमा दिया। मुंह से निकला, "पढ़कर सुझाव जरूर दीजिएगा।"

"ओह! श्योर! थैंक यू। आई विल लव टू।" प्रियदर्शनी औपचारिकता निभाने में किसी से पीछे नहीं थीं।

घर लौटकर हमारी धर्मपत्नी ने हमें आड़े हाथों लिया, "आपको अपना व्यंग्य-संग्रह उसे देने की क्या जरूरत थी?"

"अरे भई, वह पाठक है। उसे पढ़ने में रुचि है।" हमने बचाव किया।

"तो अब आप हर पाठक को अपनी पुस्तक बांटेंगे?" श्रीमती जी उफनीं।

"वह 'हर' तो नहीं है। हमारी नई पड़ोसन है।" हमने स्पष्टीकरण पेश किया।

"यही तो मैं भी कह रही हूं कि वह 'हर' नहीं है, 'वो' है। इसलिए आपको सावधान कर रही हूं, समझे। आगे से यह किताबी लेन-देन नहीं चलेगा।"

श्रीमती जी हमें सावधान कर रही थीं और स्वयं अति सावधान हो चुकी थीं।

बात आयी-गयी हो गई। हमें संतोष था कि हमने श्रीमती जी की अभिलाषा-पूर्ति के लिए एक अच्छा पड़ोस ढूंढ ही लिया था। अब 'शक' की दवा तो लुकमान हकीम पर भी नहीं मिली थी। लुकमान साहब का ही अकेले क्या दोष! आज के एम॰ डी॰ और डी॰ डी॰ भी इसका इलाज नहीं खोज पाए हैं। औरों को तो छोड़िए, बड़े-बड़े डॉक्टर भी इस लाइलाज मर्ज पर अपना घर बरबाद किए बैठे हैं। एक बार बस यह 'शक' की बीमारी लगने भर दीजिए, फिर तो अच्छे-से-अच्छा डॉक्टर भी बस टुकुर-टुकुर देखता भर रह जाता है। कुछ कर नहीं पाता। फिर हमारी तो हस्ती ही क्या थी।

और शक भी भला क्यों न हो। चुंबक लोहे को नहीं खींचेगा तो क्या पत्थर को खींचेगा! पड़ोसन का आकर्षण इस कदर बढ़ चला था कि धीरे-धीरे मेरे घर की हर पुस्तक पड़ोस में पहुंचनी प्रारंभ हो गई। रेफरेंस के लिए भी लाइब्रेरी की तरह पड़ोस में जाना पड़ता था। मूल्य के रूप में वसूल हो रही थी केवल मुस्कान। और मैं था कि तन्मन्यता से पूरा-पूरा मूल्य वसूलने पर आमादा था। यह सब श्रीमती जी भी देखभाल रही थीं। वह शंकालु से ईर्ष्यालु हो उठीं। जितना समय खाने-पीने और घर की देखभाल करने में लगाती थीं, अब उतना ही समय मेरी चौकसी पर खर्च करने लगीं। मेरा घर से निकलना भी अब उन्हें अखरने लगा और अखरता भी क्यों नहीं, चाहे कहीं भी जाना हो, मेरे कदम पड़ोस में एक चक्कर जरूरी डाल आते थे।

पर मेरी श्रीमती जी भी कुछ कम पैंतरेबाज नहीं थीं। आखिर थीं तो मेरी ही धर्मपत्नी। मेरे लंबे सान्निध्य का दुष्परिणाम यह हुआ कि उन्होंने इस समस्या

का निदान अपने ही ढंग से निकाल लिया। मैंने अचानक पाया कि अब वह स्वयं अपना अधिकांश समय मेरी पड़ोसन पर लगाने लगी हैं। बस, जरूरी घरेलू काम निबटाए और पड़ोस में पहुंच गईं। मैं अच्छे पड़ोस से अच्छा परिचय ही कर सका था, श्रीमती जी ने अच्छी मित्रता कर ली थी। जो थोड़ी-बहुत किताबें मेरे पास बाकी रह गई थीं, वह उन्हें बड़ी उदारतापूर्वक स्वयं पड़ोसन को दे आयीं। मुसकान का मूल्य भी स्वयं वसूल कर लिया। मैं गंभीर टोटे में आ गया था।

मुझे इस स्थिति से भी शायद ही परहेज होता, आखिर अच्छा पड़ोस मैंने श्रीमती जी की अभिलाषा के लिए ही चुना था। पर मेरा माथा तो तब ठनका, जब मेरी धर्मपत्नी ने एक रोज मुंह बनाकर कहा–"तुमने पड़ोस के किचन में माइक्रोवेव ओवन देखी? कितनी जल्दी खाना बनाती है, कितना गर्म, कितना स्वादिष्ट!"

मैं सकते में आ गया। अच्छे पड़ोस का यह सत्संग-लाभ मेरी कल्पना से बाहर था। मैंने सचेत किया, "भाग्यवान, माइक्रोवेव ओवन तो 25,000 रुपये की आती है। मैं ठहरा मीडियम क्लास आदमी। माइक्रोवेव ओवन तो अमीरों के चोचले हैं, अमीरों के।"

"तो क्या हुआ? जैसा देश-वैसा वेश, इतने अच्छे पड़ोस के मापदंडों के अनुरूप तो रहना ही होगा न!"

मैं निरुत्तर हो गया। अपने बैंकखाते से 25,000 रुपये डेबिट होने को नहीं रोक सका। बात यहीं थम जाती तो शायद संतोष कर लेता कि अच्छे पड़ोस की कीमत सहअस्तित्व के सिद्धांत पर पति-पत्नी दोनों ने ही चुका दी है, लेकिन चार दिन बाद ही जब पड़ोसन की भव्य कांजीवरम की साड़ी पर उलाहना मिला तो मैं तिलमिला गया। पड़ोस धर्म निबाहने के लिए कांजीवरम पर 12,000 रुपये का त्याग मेरी सहनशीलता की सीमाओं का अतिक्रमण कर रहा था। लेकिन मेरी अर्धांगिनी थीं कि अच्छे पड़ोस में इतनी रच-बस गई थीं कि वह डूबकर भी सुख प्राप्त कर रही थीं। पड़ोसन की नाक से अपनी नाक छोटी कैसे रह जाए। एक छोड़ दस कांजीवरम लानी पड़ें। पर हीन भावना से तो ग्रसित नहीं होना चाहिए न। मुझे लगने लगा कि मैं एक सुनियोजित चक्रव्यूह के द्वार पर आ फंसा हूं।

कांजीवरम के बाद यह क्रम कई स्टाइलिश सलवार-सूट, कश्मीरी शहतूत के शॉल, इंपोर्टेड सौंदर्य प्रसाधन से गुजरता हुआ जब रूम ए० सी० पर आया तो मैंने अपना माथा ठोक लिया। यह अच्छा पड़ोस अब तक मेरे बैंक बैलेंस को छह अंकों में कम कर चुका था और इस अच्छे पड़ोस की अभी कितनी और कब तक कीमतें चुकानी पड़ेंगी, इसकी संभावनाएं अनंत और असीम थीं।

मेरी याद में अपनी धर्मपत्नी की कोई अभिलाषा-पूर्ति मुझे इससे अधिक महंगी नहीं पड़ी थी।

मैंने इस बार इतवार की छुट्टी का भी इंतजार नहीं किया। बुधवार को ही छुट्टी लेकर उस खड़ूस प्रॉपर्टी डीलर से भिड़ गया। शाम तक मैंने पूरी मेहनत करके अच्छे पड़ोस वाले मकान से सारा सामान नये मकान में बदल लिया था। हां, इस बार मैंने पड़ोस में झांककर नहीं देखा था और मेरी धर्मपत्नी ने गलती से भी अच्छे पड़ोस का आग्रह नहीं किया था।

सरकारी आंकड़े

आखिर भारतवर्ष के नेताओं का सपना साकार हुआ। इक्कीसवीं शताब्दी के दरवाजे पर दस्तक देते-देते देश का पूर्ण कम्प्यूटरीकरण हो गया। हर जगह पर, हर स्थान पर कम्प्यूटर ही कम्प्यूटर दिखने लगे। सिनेमा में कम्प्यूटर, दफ्तर में कम्प्यूटर, घर में कम्प्यूटर, बाजार में कम्प्यूटर, रसोई में कम्प्यूटर, गुसलखाने में कम्प्यूटर, मर्दाने में कम्प्यूटर, जनानखाने में कम्प्यूटर, यहां तक कि शौचालय तक में कम्प्यूटर लग गया। हर काम कम्प्यूटर से होने लगा। मनुष्य के लिए रह गया बस खाना-पीना और सोना। महिलाओं के लिए एक विशिष्ट कार्य और-बच्चे जनना। बाकी सारे कार्य इक्कीसवीं सदी कम्प्यूटरों को सौंपकर लगभग निश्चिंत हो गयी थी।

लेकिन यह निश्चिंतता लगभग सतही निकली जब जीवटलाल जी अपना त्यागपत्र स्वयं लेकर अपने बॉस के पास जा पहुंचे।

बॉस ने एक नज़र त्यागपत्र पर डाली। चश्मा ठीक किया। जीवटलाल जी की मुखमुद्रा को ध्यान से निहारा। त्यागपत्र का एक-एक शब्द पढ़ा और फिर लगभग बौखलाकर पूछा, "यह तो त्यागपत्र है?"

"जी हां, अब बुढ़ापे में छीछालेदर तो नहीं करायेंगे न, सर। इससे तो अच्छा ही है कि त्यागपत्र देकर घर बैठें।"

"किसकी हिमाकत हुई आपकी छीछालेदर करने की? आप तो विभाग के वरिष्ठतम कर्मचारी हैं। आपकी इज्जत तो विभाग की इज्जत है, जीवटलाल जी।"

"ऐसा आप ही तो कह रहे हैं न! करनेवाले ने तो कर ही दी है।" जीवटलाल जी मायूस थे।

"कुछ बतायेंगे भी या यों ही पहेलियां बुझाते रहेंगे! आप पिछले तीस वर्षों से यहां सुशोभित हैं, ऐसी हिम्मत आखिर की किसने?" बॉस हतप्रभ थे।

"देखिये सर! हमारे सारे आंकड़े यह दो दिन का कम्प्यूटर फेल किए दे रहा है। मैं पहले ही कहता था कि कम्प्यूटर चाहे जो कर ले, जनगणना नहीं कर सकता। पैंतालीस साल पहले जो आंकड़े रमाशंकर जी ने सैट किए थे,

चालीस साल पहले जिन्हें सक्सेना जी ने आगे बढ़ाया था और पैंतीस साल पहले जिन्हें दूबे जी ने संशोधित किया था और जिसमें ज्ञानी जी, चौबे जी, वर्मा जी, शर्मा जी, राणा जी और देशबंधु जैसे महारथियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था, उन्हें यह मुआ कल का कम्प्यूटर झुठला रहा है। अब हमने तो इस विभाग का नमक खाया है, हमसे नहीं देखा जायेगा। आप हमारा तो त्यागपत्र स्वीकार ही कर लीजिएगा।"

बॉस समस्या की गंभीरता में डूब गए। पूछा, "कौन-सा आंकड़ा गलत बता रहा है कम्प्यूटर?"

"कौन-सा? सर, यह पूछिये कौन-सा नहीं बता रहा है। इसने तो सारे के सारे आंकड़ों को उलट डाला है।" जीवटलाल जी का स्वर डूबे जा रहा था।

"हो सकता है पिछले वर्षों में जनसंख्या में ज्यादा वृद्धि हो गई हो, आप तो यूं ही घबरा रहे हैं, जीवटलाल जी।" बॉस ने जीवटलाल जी को आश्वस्त करना चाहा।

"वृद्धि! सर, कम्प्यूटर ने जनसंख्या ही घटा दी। अब कोटा-परमिटवालों का क्या होगा! राशनिंग कैसे होगी, कमीशन कैसे बनेंगे!"

"अरे, इन सालों में लोग ज्यादा मरे होंगे और पैदा कम हुए होंगे। बहुत समय से स्वास्थ्य कल्याण विभाग के फ्लॉप कार्यक्रम अचानक सफल हो गए होंगे, ऐसा हो सकता है। आखिर हम भी तो यही चाहते रहे हैं। इसमें समस्या क्या है?" बॉस ने सहज समाधान प्रस्तुत किया।

"सर, फर्क छोटा-मोटा नहीं, बहुत बड़ा है–इतना कि हजम नहीं हो पा रहा है।"

बॉस मुस्कराये, "तुम हमारे देशवासियों के हाजमे से वाकिफ नहीं हो शायद। इन्हें सब हजम है। लक्कड़ भी हजम, पत्थर भी हजम। पिछले सालों में तुमने देखा नहीं, जो आंकड़ा जहां मरोड़ दिया, वही जनता के दिमाग में फिट हो गया। अगर करोड़ों की जनसंख्या हजारों में नहीं हैं, सैकड़ों में भी बताई जायेगी तो हमारे देशवासी मान लेंगे। वे बहुत सहिष्णु उदार हैं, समझदार हैं। तुम्हें उनके विश्वास और नीयत पर शक करने का कोई हक नहीं है।"

"पर सर, इसने तो आरक्षित जातियों का प्रतिशत भी गिरा दिया। इससे तो सारे देश की आरक्षण-नीति डगमगा जायेगी।" जीवटलाल जी की दुश्चिंता अभी समाप्त नहीं हुई थी। उन्होंने दूसरी समस्या परोस दी।

बॉस ने सिर खुजलाया, "हां, यह बात जरूर परेशानी खड़ी करेगी। आरक्षण वाले तो चुप नहीं बैठेंगे। वे तो आंदोलन करेंगे। यह बात उनकी रोटी-रोजी से सीधी ताल्लुक जो रखती है। पर इसमें तो कुछ किया भी नहीं जा सकता। मुझे याद पड़ता है कि दूबे जी के कार्यकाल में इसे जमकर बढ़ाया गया था।

राजनैतिक कारण थे। सेंटर के बड़े असरदार मिनिस्टर ने प्लान किया था। उसके बाद ज्ञानी जी, चौबे जी, शर्मा जी, राणा जी, देशबंधु–किसी को भी इसे बदलने की हिम्मत नहीं हुई। महंगाई की तरह इसमें हमेशा बढ़ोतरी ही होती रही है। कभी घटोतरी नहीं हुई। अब यह कम्प्यूटर अगर भूल-सुधार कर रहा है तो इसमें हम कर ही क्या सकते हैं।"

"पर सर, इस भूल-सुधार में तो हम सब लद जायेंगे। पिछले तीस सालों से जनगणना विभाग के हर ऑफीसर के आंकड़ों पर हस्ताक्षर हैं। सारा देश उन्हें सही मानकर चल रहा है। क्या यह नहीं पूछा जायेगा कि पुराने आंकड़े गलत क्यों थे?"

"तुम तो बिना वजह दुबले हो रहे हो, जीवटलाल जी, पहले देश गलत आंकड़ों पर चलकर प्रगति कर रहा था, अब सही आंकड़ों पर चल लेगा। देश पुराने आंकड़ों पर जितना चल चुका है उससे लौट तो सकता नहीं। गलती और भूल भला किससे नहीं होती। जो कुछ किया गया है, गुडफेथ में किया गया है। जो आंकड़े रिकार्ड होकर आए, हमने तो उनको जोड़ा-घटाया ही था। अब रिकार्ड करने की भूल तो उन डेलीवेजेज के लोगों ने की है, जिन्हें हर जनगणना के समय तीन-चार महीने के लिए अस्थायी नौकरी पर रखा जाता रहा है। उनका तो देश और कानून कुछ बिगाड़ नहीं सकता और हम उनकी करनी के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकते।"

बॉस के प्रवचन से पहली बार जीवटलाल जी थोड़ा आश्वस्त हुए थे। उनकी स्थायी सरकारी नौकरी को आंच नहीं आ रही थी, लेकिन कम्प्यूटर के आंकड़ों का झटका उन्हें अभी भी पूरी तरह बर्दाश्त नहीं हो पा रहा था। अत: उन्होंने फिर शंका की "यह सब तो ठीक है सर, पर कम्प्यूटर तो अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक और बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यक बता रहा है।"

"यह तो एक दिन होना था, दस साल पहले राणा जी ने इसकी भविष्यवाणी कर दी थी। मैं सोचता था कि यह मेरे कार्यकाल में नहीं होगा। मेरे रिटायरमेंट के बाद ही होगा, पर अब अगर कम्प्यूटर ने इसे इसी साल घोषित कर दिया है तो क्या बिगड़ गया। अब भविष्य की इस समस्या से देश और नेता जल्दी ही दो-चार हो लेंगे। शुभस्य शीघ्रम।"

"पर यह तो सारी परिभाषाएं उलट देगा। अल्पसंख्यकों को जो राजनैतिक सुविधाओं की आदत है वह कैसे छूटेगी और बहुसंख्यक अब उन सुविधाओं के लिए मारा-मारी करेंगे। बड़ी विस्फोटक स्थिति हो जायेगी देश की।"

"यहां मैं तुमसे सहमत हूं। मेरी समझ में इतनी बड़ी जिम्मेदारी अकेले जनगणना विभाग को नहीं उठानी चाहिए। इसका भार सरकार पर भी पड़ना चाहिए। मैं अभी सारी स्थिति से सरकार को अवगत कराता हूं। तुम कम्प्यूटर

के सभी आंकड़े मुझे लाकर दो।" बॉस ने अपनी प्रशासनिक सूझ से निर्णय लिया।

जीवटलाल जी दौड़कर आंकड़ों का पुलिंदा ले आए। बॉस ने फोन से संपर्क किया। संक्षेप में सारी बातें समझायीं।

दूसरी ओर से सरकार ने डांट पिलाई, "ह्वाट, चुनाव के ठीक पहले तुम यह सब उलट-फेर करना चाहते हो। तुम्हें पता है कि इस सब का चुनाव पर क्या असर पड़ेगा? गणतंत्र पर क्या असर पड़ेगा? और सरकार पर क्या असर पड़ेगा?"

"पर सर, कम्प्यूटर तो यही बता रहा है।" बॉस ने प्रतिवाद किया।

"टू हैल विद योर कम्प्यूटर! तुमने उसे फीड ही गलत किया होगा। अगर उसे सही फीड किया जाता तो ये आंकड़े कभी नहीं आ सकते थे। हम इतना खतरा मोल नहीं ले सकते। तुम्हारा कम्प्यूटर ही खराब है। चुनाव के बाद ठीक कराकर उससे आंकड़े लेना। ठीक से फीड करके। अभी पुराने आंकड़े ही चलने दो।" सरकार फिर गरजी।

"पर सर, कम्प्यूटर तो सही काम कर रहा है।"

"तो उसे खराब कर दो! तब तो वह सही काम नहीं करेगा।"

"सर, इस विभाग में किसी को अभी कम्प्यूटर खराब करना नहीं आता! क्या आप किसी मैकेनिक को भेज देंगे?"

"भेजना ही पड़ेगा, निर्वाचन से पहले इतना बड़ा रिस्क हम नहीं ले सकते। आप इंतजार कीजिए, मैं अभी मैकेनिक भेजता हूं।" और सरकार ने लाइन काट दी।

बॉस ने चोगा रखकर संतोष की गहरी सांस ली। जीवटलाल जी की ओर देखकर मुसकराये, "आप भी बीमार कम्प्यूटर के आंकड़ों को पढ़-पढ़कर बौखला रहे हैं। शाम तक मैकेनिक आ जाएगा और कम्प्यूटर की बीमारी का प्रमाणपत्र दे जाएगा। फिर आपके ही आंकड़े चलेंगे। वही जनसंख्या वृद्धि वाले, वही अधिकतम आरक्षण वाले और वही अल्पसंख्यक वाले।"

जीवटलाल जी की मुखमुद्रा खिल उठी। बॉस ने उनके त्यागपत्र को उठाकर एक बार उस पर फिर निगाह डाली, "इसका क्या करना है?"

"इसे तो अब वापस ही दे दीजिए, सर!" जीवटलाल जी ने हाथ बढ़ा दिया।

त्यागपत्र वापस लेकर जीवटलाल जी अब अपनी सीट पर वापस लौटे तो उनका मन बहुत हलका हो चुका था—निर्द्वंद्व, सहज और निर्विकार।

दरोगा जी का कोट

भारतवर्ष का एक नागरिक पुलिस विभाग में सिपाही बन गया। देश और काल के प्रभाव में उसे 'ऊपर की आमदनी' की आदत पड़ गयी। अकसर पड़ ही जाती है। आजकल रिवाज जो चल रहा है। आदत लत में बदल गयी। बदल ही जाती है। कोई अनहोनी बात नहीं है। जो आमतौर से होता रहता है वही उसके साथ भी घट गया। अब सिपाही जी से मुट्ठी गरम किये बिना कोई काम नहीं होता था। उन्होंने मुफ्तखोरी छोड़ दी थी। घर की सब्जी खरीदते हुए भी कुछ पैसे जरूर मार लेते थे। चाहे एक जेब से निकालकर दूसरी ही जेब में क्यों न सरकाने पड़ें, पर अपने ही माल में भी वह हेराफेरी से बाज नहीं आते थे।

एक दिन पत्नी ने काम बताया, "आज मुन्ना की फीस जमा करते आना।" तो बेचारे फीस भी जमा नहीं करा सके। पत्नी ने ऊपर से कुछ नहीं दिया था। सारे दिन सोचते रहे कि क्या मुफ्त में ही फीस जमा करा दूं? बेटा अपना है तो क्या हुआ, फीस जमा कराने तो जाना ही पड़ेगा। इस तरह तो मेरी आदत खराब हो जाएगी। मुफ्त काम, वह भी अपने देश की पुलिसिया नौकरी में। सोचो, कैसा नाम बदनाम होगा! ऐसा धब्बा लगेगा कि सदियों तक नहीं धुलेगा। सो अपनी नौकरी की मान-मर्यादा बचाने की खातिर पत्नी से अगले दिन बोले, "भाग्यवान, क्यों मेरी जान के पीछे पड़ी हो! मुन्ना की फीस मैं जमा नहीं करा सकता। तू खुद कर आ या पड़ोस के मास्टर को दे दे। यह ले फीस वापस। बस, पांच रुपये कम हैं। चाय-बीड़ी में बिगड़ गये।" इस तरह अपना लिहाजाना कमीशन काटकर उन्होंने इस धर्म-संकट से अपने को उबारा।

एक दिन अपने इन्हीं सिपाही जी को एक घनघोर संकट ने आ घेरा। थाने के जो नये दरोगा आए, वह भी अपने उसूलों के पक्के थे। कानी कौड़ी खर्चने के लिए उनके पास कोई जेब ही नहीं थी। उनकी सारी ड्रेसों में एक ही जेब होती थी जिसमें पैसा जा तो सकता था, पर निकलने का उसमें कोई रास्ता ही नहीं होता था। जिस जेब में हजारों रुपये आराम से समा जाते थे, उसमें से पांच रुपये निकलवाने के लिए जगह तंग पड़ती थी। ऐसे दरोगा से जब सिपाही

के सभी आंकड़े मुझे लाकर दो।" बॉस ने अपनी प्रशासनिक सूझ से निर्णय लिया।

जीवटलाल जी दौड़कर आंकड़ों का पुलिंदा ले आए। बॉस ने फोन से संपर्क किया। संक्षेप में सारी बातें समझायीं।

दूसरी ओर से सरकार ने डांट पिलाई, "ह्वाट, चुनाव के ठीक पहले तुम यह सब उलट-फेर करना चाहते हो। तुम्हें पता है कि इस सब का चुनाव पर क्या असर पड़ेगा? गणतंत्र पर क्या असर पड़ेगा? और सरकार पर क्या असर पड़ेगा?"

"पर सर, कम्प्यूटर तो यही बता रहा है।" बॉस ने प्रतिवाद किया।

"टू हैल विद योर कम्प्यूटर! तुमने उसे फीड ही गलत किया होगा। अगर उसे सही फीड किया जाता तो ये आंकड़े कभी नहीं आ सकते थे। हम इतना खतरा मोल नहीं ले सकते। तुम्हारा कम्प्यूटर ही खराब है। चुनाव के बाद ठीक कराकर उससे आंकड़े लेना। ठीक से फीड करके। अभी पुराने आंकड़े ही चलने दो।" सरकार फिर गरजी।

"पर सर, कम्प्यूटर तो सही काम कर रहा है।"

"तो उसे खराब कर दो! तब तो वह सही काम नहीं करेगा।"

"सर, इस विभाग में किसी को अभी कम्प्यूटर खराब करना नहीं आता! क्या आप किसी मैकेनिक को भेज देंगे?"

"भेजना ही पड़ेगा, निर्वाचन से पहले इतना बड़ा रिस्क हम नहीं ले सकते। आप इंतजार कीजिए, मैं अभी मैकेनिक भेजता हूं।" और सरकार ने लाइन काट दी।

बॉस ने चोगा रखकर संतोष की गहरी सांस ली। जीवटलाल जी की ओर देखकर मुसकराये, "आप भी बीमार कम्प्यूटर के आंकड़ों को पढ़-पढ़कर बौखला रहे हैं। शाम तक मैकेनिक आ जाएगा और कम्प्यूटर की बीमारी का प्रमाणपत्र दे जाएगा। फिर आपके ही आंकड़े चलेंगे। वही जनसंख्या वृद्धि वाले, वही अधिकतम आरक्षण वाले और वही अल्पसंख्यक वाले।"

जीवटलाल जी की मुखमुद्रा खिल उठी। बॉस ने उनके त्यागपत्र को उठाकर एक बार उस पर फिर निगाह डाली, "इसका क्या करना है?"

"इसे तो अब वापस ही दे दीजिए, सर!" जीवटलाल जी ने हाथ बढ़ा दिया।

त्यागपत्र वापस लेकर जीवटलाल जी अब अपनी सीट पर वापस लौटे तो उनका मन बहुत हलका हो चुका था—निर्द्वंद्व, सहज और निर्विकार।

दरोगा जी का कोट

भारतवर्ष का एक नागरिक पुलिस विभाग में सिपाही बन गया। देश और काल के प्रभाव में उसे 'ऊपर की आमदनी' की आदत पड़ गयी। अकसर पड़ ही जाती है। आजकल रिवाज जो चल रहा है। आदत लत में बदल गयी। बदल ही जाती है। कोई अनहोनी बात नहीं है। जो आमतौर से होता रहता है वही उसके साथ भी घट गया। अब सिपाही जी से मुट्ठी गरम किये बिना कोई काम नहीं होता था। उन्होंने मुफ्तखोरी छोड़ दी थी। घर की सब्जी खरीदते हुए भी कुछ पैसे जरूर मार लेते थे। चाहे एक जेब से निकालकर दूसरी ही जेब में क्यों न सरकाने पड़ें, पर अपने ही माल में भी वह हेराफेरी से बाज नहीं आते थे।

एक दिन पत्नी ने काम बताया, "आज मुन्ना की फीस जमा करते आना।" तो बेचारे फीस भी जमा नहीं करा सके। पत्नी ने ऊपर से कुछ नहीं दिया था। सारे दिन सोचते रहे कि क्या मुफ्त में ही फीस जमा करा दूं? बेटा अपना है तो क्या हुआ, फीस जमा कराने तो जाना ही पड़ेगा। इस तरह तो मेरी आदत खराब हो जाएगी। मुफ्त काम, वह भी अपने देश की पुलिसिया नौकरी में। सोचो, कैसा नाम बदनाम होगा! ऐसा धब्बा लगेगा कि सदियों तक नहीं धुलेगा। सो अपनी नौकरी की मान-मर्यादा बचाने की खातिर पत्नी से अगले दिन बोले, "भाग्यवान, क्यों मेरी जान के पीछे पड़ी हो! मुन्ना की फीस मैं जमा नहीं करा सकता। तू खुद कर आ या पड़ोस के मास्टर को दे दे। यह ले फीस वापस। बस, पांच रुपये कम हैं। चाय-बीड़ी में बिगड़ गये।" इस तरह अपना लिहाजाना कमीशन काटकर उन्होंने इस धर्म-संकट से अपने को उबारा।

एक दिन अपने इन्हीं सिपाही जी को एक घनघोर संकट ने आ घेरा। थाने के जो नये दरोगा आए, वह भी अपने उसूलों के पक्के थे। कानी कौड़ी खर्चने के लिए उनके पास कोई जेब ही नहीं थी। उनकी सारी ड्रेसों में एक ही जेब होती थी जिसमें पैसा जा तो सकता था, पर निकलने का उसमें कोई रास्ता ही नहीं होता था। जिस जेब में हजारों रुपये आराम से समा जाते थे, उसमें से पांच रुपये निकलवाने के लिए जगह तंग पड़ती थी। ऐसे दरोगा से जब सिपाही

के सभी आंकड़े मुझे लाकर दो।" बॉस ने अपनी प्रशासनिक सूझ से निर्णय लिया।

जीवटलाल जी दौड़कर आंकड़ों का पुलिंदा ले आए। बॉस ने फोन से संपर्क किया। संक्षेप में सारी बातें समझायीं।

दूसरी ओर से सरकार ने डांट पिलाई, "ह्वाट, चुनाव के ठीक पहले तुम यह सब उलट-फेर करना चाहते हो। तुम्हें पता है कि इस सब का चुनाव पर क्या असर पड़ेगा? गणतंत्र पर क्या असर पड़ेगा? और सरकार पर क्या असर पड़ेगा?"

"पर सर, कम्प्यूटर तो यही बता रहा है।" बॉस ने प्रतिवाद किया।

"टू हैल विद योर कम्प्यूटर! तुमने उसे फीड ही गलत किया होगा। अगर उसे सही फीड किया जाता तो ये आंकड़े कभी नहीं आ सकते थे। हम इतना खतरा मोल नहीं ले सकते। तुम्हारा कम्प्यूटर ही खराब है। चुनाव के बाद ठीक कराकर उससे आंकड़े लेना। ठीक से फीड करके। अभी पुराने आंकड़े ही चलने दो।" सरकार फिर गरजी।

"पर सर, कम्प्यूटर तो सही काम कर रहा है।"

"तो उसे खराब कर दो! तब तो वह सही काम नहीं करेगा।"

"सर, इस विभाग में किसी को अभी कम्प्यूटर खराब करना नहीं आता! क्या आप किसी मैकेनिक को भेज देंगे?"

"भेजना ही पड़ेगा, निर्वाचन से पहले इतना बड़ा रिस्क हम नहीं ले सकते। आप इंतजार कीजिए, मैं अभी मैकेनिक भेजता हूं।" और सरकार ने लाइन काट दी।

बॉस ने चोगा रखकर संतोष की गहरी सांस ली। जीवटलाल जी की ओर देखकर मुसकराये, "आप भी बीमार कम्प्यूटर के आंकड़ों को पढ़-पढ़कर बौखला रहे हैं। शाम तक मैकेनिक आ जाएगा और कम्प्यूटर की बीमारी का प्रमाणपत्र दे जाएगा। फिर आपके ही आंकड़े चलेंगे। वही जनसंख्या वृद्धि वाले, वही अधिकतम आरक्षण वाले और वही अल्पसंख्यक वाले।"

जीवटलाल जी की मुखमुद्रा खिल उठी। बॉस ने उनके त्यागपत्र को उठाकर एक बार उस पर फिर निगाह डाली, "इसका क्या करना है?"

"इसे तो अब वापस ही दे दीजिए, सर!" जीवटलाल जी ने हाथ बढ़ा दिया।

त्यागपत्र वापस लेकर जीवटलाल जी अब अपनी सीट पर वापस लौटे तो उनका मन बहुत हलका हो चुका था—निर्द्वंद्व, सहज और निर्विकार।

दरोगा जी का कोट

भारतवर्ष का एक नागरिक पुलिस विभाग में सिपाही बन गया। देश और काल के प्रभाव में उसे 'ऊपर की आमदनी' की आदत पड़ गयी। अकसर पड़ ही जाती है। आजकल रिवाज जो चल रहा है। आदत लत में बदल गयी। बदल ही जाती है। कोई अनहोनी बात नहीं है। जो आमतौर से होता रहता है वही उसके साथ भी घट गया। अब सिपाही जी से मुट्ठी गरम किये बिना कोई काम नहीं होता था। उन्होंने मुफ्तखोरी छोड़ दी थी। घर की सब्जी खरीदते हुए भी कुछ पैसे जरूर मार लेते थे। चाहे एक जेब से निकालकर दूसरी ही जेब में क्यों न सरकाने पड़ें, पर अपने ही माल में भी वह हेराफेरी से बाज नहीं आते थे।

एक दिन पत्नी ने काम बताया, "आज मुन्ना की फीस जमा करते आना।" सारे दिन सोचते रहे कि क्या मुफ्त में ही फीस जमा करा दूं? बेटा अपना है तो क्या हुआ, फीस जमा कराने तो जाना ही पड़ेगा। इस तरह तो मेरी आदत खराब हो जाएगी। मुफ्त काम, वह भी अपने देश की पुलिसिया नौकरी में। सोचो, कैसा नाम बदनाम होगा! ऐसा धब्बा लगेगा कि सदियों तक नहीं धुलेगा। सो अपनी नौकरी की मान-मर्यादा बचाने की खातिर पत्नी से अगले दिन बोले, "भाग्यवान, क्यों मेरी जान के पीछे पड़ी हो! मुन्ना की फीस मैं जमा नहीं करा सकता। तू खुद कर आ या पड़ोस के मास्टर को दे दे। यह ले फीस वापस। बस, पांच रुपये कम हैं। चाय-बीड़ी में बिगड़ गये।" इस तरह अपना लिहाजाना कमीशन काटकर उन्होंने इस धर्म-संकट से अपने को उबारा।

एक दिन अपने इन्हीं सिपाही जी को एक घनघोर संकट ने आ घेरा। थाने के जो नये दरोगा आए, वह भी अपने उसूलों के पक्के थे। कानी कौड़ी खर्चने के लिए उनके पास कोई जेब ही नहीं थी। उनकी सारी ड्रेसों में एक ही जेब होती थी जिसमें पैसा जा तो सकता था, पर निकलने का उसमें कोई रास्ता ही नहीं होता था। जिस जेब में हजारों रुपये आराम से समा जाते थे, उसमें से पांच रुपये निकलवाने के लिए जगह तंग पड़ती थी। ऐसे दरोगा से जब सिपाही

के सभी आंकड़े मुझे लाकर दो।" बॉस ने अपनी प्रशासनिक सूझ से निर्णय लिया।

जीवटलाल जी दौड़कर आंकड़ों का पुलिंदा ले आए। बॉस ने फोन से संपर्क किया। संक्षेप में सारी बातें समझायीं।

दूसरी ओर से सरकार ने डांट पिलाई, "ह्वाट, चुनाव के ठीक पहले तुम यह सब उलट-फेर करना चाहते हो। तुम्हें पता है कि इस सब का चुनाव पर क्या असर पड़ेगा? गणतंत्र पर क्या असर पड़ेगा? और सरकार पर क्या असर पड़ेगा?"

"पर सर, कम्प्यूटर तो यही बता रहा है।" बॉस ने प्रतिवाद किया।

"टू हैल विद योर कम्प्यूटर! तुमने उसे फीड ही गलत किया होगा। अगर उसे सही फीड किया जाता तो ये आंकड़े कभी नहीं आ सकते थे। हम इतना खतरा मोल नहीं ले सकते। तुम्हारा कम्प्यूटर ही खराब है। चुनाव के बाद ठीक कराकर उससे आंकड़े लेना। ठीक से फीड करके। अभी पुराने आंकड़े ही चलने दो।" सरकार फिर गरजी।

"पर सर, कम्प्यूटर तो सही काम कर रहा है।"

"तो उसे खराब कर दो! तब तो वह सही काम नहीं करेगा।"

"सर, इस विभाग में किसी को अभी कम्प्यूटर खराब करना नहीं आता! क्या आप किसी मैकेनिक को भेज देंगे?"

"भेजना ही पड़ेगा, निर्वाचन से पहले इतना बड़ा रिस्क हम नहीं ले सकते। आप इंतजार कीजिए, मैं अभी मैकेनिक भेजता हूं।" और सरकार ने लाइन काट दी।

बॉस ने चोगा रखकर संतोष की गहरी सांस ली। जीवटलाल जी की ओर देखकर मुसकराये, "आप भी बीमार कम्प्यूटर के आंकड़ों को पढ़-पढ़कर बौखला रहे हैं। शाम तक मैकेनिक आ जाएगा और कम्प्यूटर की बीमारी का प्रमाणपत्र दे जाएगा। फिर आपके ही आंकड़े चलेंगे। वही जनसंख्या वृद्धि वाले, वही अधिकतम आरक्षण वाले और वही अल्पसंख्यक वाले।"

जीवटलाल जी की मुखमुद्रा खिल उठी। बॉस ने उनके त्यागपत्र को उठाकर एक बार उस पर फिर निगाह डाली, "इसका क्या करना है?"

"इसे तो अब वापस ही दे दीजिए, सर!" जीवटलाल जी ने हाथ बढ़ा दिया।

त्यागपत्र वापस लेकर जीवटलाल जी अब अपनी सीट पर वापस लौटे तो उनका मन बहुत हलका हो चुका था—निर्द्वंद्व, सहज और निर्विकार।

दरोगा जी का कोट

भारतवर्ष का एक नागरिक पुलिस विभाग में सिपाही बन गया। देश और काल के प्रभाव में उसे 'ऊपर की आमदनी' की आदत पड़ गयी। अकसर पड़ ही जाती है। आजकल रिवाज जो चल रहा है। आदत लत में बदल गयी। बदल ही जाती है। कोई अनहोनी बात नहीं है। जो आमतौर से होता रहता है वही उसके साथ भी घट गया। अब सिपाही जी से मुट्ठी गरम किये बिना कोई काम नहीं होता था। उन्होंने मुफ्तखोरी छोड़ दी थी। घर की सब्जी खरीदते हुए भी कुछ पैसे जरूर मार लेते थे। चाहे एक जेब से निकालकर दूसरी ही जेब में क्यों न सरकाने पड़ें, पर अपने ही माल में भी वह हेराफेरी से बाज नहीं आते थे।

एक दिन पत्नी ने काम बताया, "आज मुन्ना की फीस जमा करते आना।" तो बेचारे फीस भी जमा नहीं करा सके। पत्नी ने ऊपर से कुछ नहीं दिया था। सारे दिन सोचते रहे कि क्या मुफ्त में ही फीस जमा करा दूं? बेटा अपना है तो क्या हुआ, फीस जमा कराने तो जाना ही पड़ेगा। इस तरह तो मेरी आदत खराब हो जाएगी। मुफ्त काम, वह भी अपने देश की पुलिसिया नौकरी में। सोचो, कैसा नाम बदनाम होगा! ऐसा धब्बा लगेगा कि सदियों तक नहीं धुलेगा। सो अपनी नौकरी की मान-मर्यादा बचाने की खातिर पत्नी से अगले दिन बोले, "भाग्यवान, क्यों मेरी जान के पीछे पड़ी हो! मुन्ना की फीस मैं जमा नहीं करा सकता। तू खुद कर आ या पड़ोस के मास्टर को दे दे। यह ले फीस वापस। बस, पांच रुपये कम हैं। चाय-बीड़ी में बिगड़ गये।" इस तरह अपना लिहाजाना कमीशन काटकर उन्होंने इस धर्म-संकट से अपने को उबारा।

एक दिन अपने इन्हीं सिपाही जी को एक घनघोर संकट ने आ घेरा। थाने के जो नये दरोगा आए, वह भी अपने उसूलों के पक्के थे। कानी कौड़ी खचने के लिए उनके पास कोई जेब ही नहीं थी। उनकी सारी ड्रेसों में एक ही जेब होती थी जिसमें पैसा जा तो सकता था, पर निकलने का उसमें कोई रास्ता ही नहीं होता था। जिस जेब में हजारों रुपये आराम से समा जाते थे, उसमें से पांच रुपये निकलवाने के लिए जगह तंग पड़ती थी। ऐसे दरोगा से जब सिपाही

के सभी आंकड़े मुझे लाकर दो।'' बॉस ने अपनी प्रशासनिक सूझ से निर्णय लिया।

जीवटलाल जी दौड़कर आंकड़ों का पुलिंदा ले आए। बॉस ने फोन से संपर्क किया। संक्षेप में सारी बातें समझायीं।

दूसरी ओर से सरकार ने डांट पिलाई, "ह्वाट, चुनाव के ठीक पहले तुम यह सब उलट-फेर करना चाहते हो। तुम्हें पता है कि इस सब का चुनाव पर क्या असर पड़ेगा? गणतंत्र पर क्या असर पड़ेगा? और सरकार पर क्या असर पड़ेगा?''

"पर सर, कम्प्यूटर तो यही बता रहा है।'' बॉस ने प्रतिवाद किया।

"टू हैल विद योर कम्प्यूटर! तुमने उसे फीड ही गलत किया होगा। अगर उसे सही फीड किया जाता तो ये आंकड़े कभी नहीं आ सकते थे। हम इतना खतरा मोल नहीं ले सकते। तुम्हारा कम्प्यूटर ही खराब है। चुनाव के बाद ठीक कराकर उससे आंकड़े लेना। ठीक से फीड करके। अभी पुराने आंकड़े ही चलने दो।'' सरकार फिर गरजी।

"पर सर, कम्प्यूटर तो सही काम कर रहा है।''

"तो उसे खराब कर दो! तब तो वह सही काम नहीं करेगा।''

"सर, इस विभाग में किसी को अभी कम्प्यूटर खराब करना नहीं आता! क्या आप किसी मैकेनिक को भेज देंगे?''

"भेजना ही पड़ेगा, निर्वाचन से पहले इतना बड़ा रिस्क हम नहीं ले सकते। आप इंतजार कीजिए, मैं अभी मैकेनिक भेजता हूं।'' और सरकार ने लाइन काट दी।

बॉस ने चोगा रखकर संतोष की गहरी सांस ली। जीवटलाल जी की ओर देखकर मुसकराये, "आप भी बीमार कम्प्यूटर के आंकड़ों को पढ़-पढ़कर बौखला रहे हैं। शाम तक मैकेनिक आ जाएगा और कम्प्यूटर की बीमारी का प्रमाणपत्र दे जाएगा। फिर आपके ही आंकड़े चलेंगे। वही जनसंख्या वृद्धि वाले, वही अधिकतम आरक्षण वाले और वही अल्पसंख्यक वाले।''

जीवटलाल जी की मुखमुद्रा खिल उठी। बॉस ने उनके त्यागपत्र को उठाकर एक बार उस पर फिर निगाह डाली, "इसका क्या करना है?''

"इसे तो अब वापस ही दे दीजिए, सर!'' जीवटलाल जी ने हाथ बढ़ा दिया।

त्यागपत्र वापस लेकर जीवटलाल जी अब अपनी सीट पर वापस लौटे तो उनका मन बहुत हलका हो चुका था–निर्द्वंद्व, सहज और निर्विकार।

दरोगा जी का कोट

भारतवर्ष का एक नागरिक पुलिस विभाग में सिपाही बन गया। देश और काल के प्रभाव में उसे 'ऊपर की आमदनी' की आदत पड़ गयी। अकसर पड़ ही जाती है। आजकल रिवाज जो चल रहा है। आदत लत में बदल गयी। बदल ही जाती है। कोई अनहोनी बात नहीं है। जो आमतौर से होता रहता है वही उसके साथ भी घट गया। अब सिपाही जी से मुट्ठी गरम किये बिना कोई काम नहीं होता था। उन्होंने मुफ्तखोरी छोड़ दी थी। घर की सब्जी खरीदते हुए भी कुछ पैसे जरूर मार लेते थे। चाहे एक जेब से निकालकर दूसरी ही जेब में क्यों न सरकाने पड़ें, पर अपने ही माल में भी वह हेराफेरी से बाज नहीं आते थे।

एक दिन पत्नी ने काम बताया, "आज मुन्ना की फीस जमा करते आना।" तो बेचारे फीस भी जमा नहीं करा सके। पत्नी ने ऊपर से कुछ नहीं दिया था। सारे दिन सोचते रहे कि क्या मुफ्त में ही फीस जमा करा दूं? बेटा अपना है तो क्या हुआ, फीस जमा कराने तो जाना ही पड़ेगा। इस तरह तो मेरी आदत खराब हो जाएगी। मुफ्त काम, वह भी अपने देश की पुलिसिया नौकरी में। सोचो, कैसा नाम बदनाम होगा! ऐसा धब्बा लगेगा कि सदियों तक नहीं धुलेगा। सो अपनी नौकरी की मान-मर्यादा बचाने की खातिर पत्नी से अगले दिन बोले, "भाग्यवान, क्यों मेरी जान के पीछे पड़ी हो! मुन्ना की फीस मैं जमा नहीं करा सकता। तू खुद कर आ या पड़ोस के मास्टर को दे दे। यह ले फीस वापस। बस, पांच रुपये कम हैं। चाय-बीड़ी में बिगड़ गये।" इस तरह अपना लिहाजाना कमीशन काटकर उन्होंने इस धर्म-संकट से अपने को उबारा।

एक दिन अपने इन्हीं सिपाही जी को एक घनघोर संकट ने आ घेरा। थाने के जो नये दरोगा आए, वह भी अपने उसूलों के पक्के थे। कानी कौड़ी खर्चने के लिए उनके पास कोई जेब ही नहीं थी। उनकी सारी ड्रेसों में एक ही जेब होती थी जिसमें पैसा जा तो सकता था, पर निकलने का उसमें कोई रास्ता ही नहीं होता था। जिस जेब में हजारों रुपये आराम से समा जाते थे, उसमें से पांच रुपये निकलवाने के लिए जगह तंग पड़ती थी। ऐसे दरोगा से जब सिपाही

के सभी आंकड़े मुझे लाकर दो।" बॉस ने अपनी प्रशासनिक सूझ से निर्णय लिया।

जीवटलाल जी दौड़कर आंकड़ों का पुलिंदा ले आए। बॉस ने फोन से संपर्क किया। संक्षेप में सारी बातें समझायीं।

दूसरी ओर से सरकार ने डांट पिलाई, "ह्वाट, चुनाव के ठीक पहले तुम यह सब उलट-फेर करना चाहते हो। तुम्हें पता है कि इस सब का चुनाव पर क्या असर पड़ेगा? गणतंत्र पर क्या असर पड़ेगा? और सरकार पर क्या असर पड़ेगा?"

"पर सर, कम्प्यूटर तो यही बता रहा है।" बॉस ने प्रतिवाद किया।

"टू हैल विद योर कम्प्यूटर! तुमने उसे फीड ही गलत किया होगा। अगर उसे सही फीड किया जाता तो ये आंकड़े कभी नहीं आ सकते थे। हम इतना खतरा मोल नहीं ले सकते। तुम्हारा कम्प्यूटर ही खराब है। चुनाव के बाद ठीक कराकर उससे आंकड़े लेना। ठीक से फीड करके। अभी पुराने आंकड़े ही चलने दो।" सरकार फिर गरजी।

"पर सर, कम्प्यूटर तो सही काम कर रहा है।"

"तो उसे खराब कर दो! तब तो वह सही काम नहीं करेगा।"

"सर, इस विभाग में किसी को अभी कम्प्यूटर खराब करना नहीं आता! क्या आप किसी मैकेनिक को भेज देंगे?"

"भेजना ही पड़ेगा, निर्वाचन से पहले इतना बड़ा रिस्क हम नहीं ले सकते। आप इंतजार कीजिए, मैं अभी मैकेनिक भेजता हूं।" और सरकार ने लाइन काट दी।

बॉस ने चोगा रखकर संतोष की गहरी सांस ली। जीवटलाल जी की ओर देखकर मुसकराये, "आप भी बीमार कम्प्यूटर के आंकड़ों को पढ़-पढ़कर बौखला रहे हैं। शाम तक मैकेनिक आ जाएगा और कम्प्यूटर की बीमारी का प्रमाणपत्र दे जाएगा। फिर आपके ही आंकड़े चलेंगे। वही जनसंख्या वृद्धि वाले, वही अधिकतम आरक्षण वाले और वही अल्पसंख्यक वाले।"

जीवटलाल जी की मुखमुद्रा खिल उठी। बॉस ने उनके त्यागपत्र को उठाकर एक बार उस पर फिर निगाह डाली, "इसका क्या करना है?"

"इसे तो अब वापस ही दे दीजिए, सर!" जीवटलाल जी ने हाथ बढ़ा दिया।

त्यागपत्र वापस लेकर जीवटलाल जी अब अपनी सीट पर वापस लौटे तो उनका मन बहुत हलका हो चुका था—निर्द्वंद्व, सहज और निर्विकार।

दरोगा जी का कोट

भारतवर्ष का एक नागरिक पुलिस विभाग में सिपाही बन गया। देश और काल के प्रभाव में उसे 'ऊपर की आमदनी' की आदत पड़ गयी। अकसर पड़ ही जाती है। आजकल रिवाज जो चल रहा है। आदत लत में बदल गयी। बदल ही जाती है। कोई अनहोनी बात नहीं है। जो आमतौर से होता रहता है वही उसके साथ भी घट गया। अब सिपाही जी से मुट्ठी गरम किये बिना कोई काम नहीं होता था। उन्होंने मुफ्तखोरी छोड़ दी थी। घर की सब्जी खरीदते हुए भी कुछ पैसे जरूर मार लेते थे। चाहे एक जेब से निकालकर दूसरी ही जेब में क्यों न सरकाने पड़ें, पर अपने ही माल में भी वह हेराफेरी से बाज नहीं आते थे।

एक दिन पत्नी ने काम बताया, "आज मुन्ना की फीस जमा करते आना।" तो बेचारे फीस भी जमा नहीं करा सके। पत्नी ने ऊपर से कुछ नहीं दिया था। सारे दिन सोचते रहे कि क्या मुफ्त में ही फीस जमा करा दूं? बेटा अपना है तो क्या हुआ, फीस जमा कराने तो जाना ही पड़ेगा। इस तरह तो मेरी आदत खराब हो जाएगी। मुफ्त काम, वह भी अपने देश की पुलिसिया नौकरी में। सोचो, कैसा नाम बदनाम होगा! ऐसा धब्बा लगेगा कि सदियों तक नहीं धुलेगा। सो अपनी नौकरी की मान-मर्यादा बचाने की खातिर पत्नी से अगले दिन बोले, "भाग्यवान, क्यों मेरी जान के पीछे पड़ी हो! मुन्ना की फीस मैं जमा नहीं करा सकता। तू खुद कर आ या पड़ोस के मास्टर को दे दे। यह ले फीस वापस। बस, पांच रुपये कम हैं। चाय-बीड़ी में बिगड़ गये।" इस तरह अपना लिहाजाना कमीशन काटकर उन्होंने इस धर्म-संकट से अपने को उबारा।

एक दिन अपने इन्हीं सिपाही जी को एक घनघोर संकट ने आ घेरा। थाने के जो नये दरोगा आए, वह भी अपने उसूलों के पक्के थे। कानी कौड़ी खर्चने के लिए उनके पास कोई जेब ही नहीं थी। उनकी सारी ड्रेसों में एक ही जेब होती थी जिसमें पैसा जा तो सकता था, पर निकलने का उसमें कोई रास्ता ही नहीं होता था। जिस जेब में हजारों रुपये आराम से समा जाते थे, उसमें से पांच रुपये निकलवाने के लिए जगह तंग पड़ती थी। ऐसे दरोगा से जब सिपाही

जी की मुठभेड़ हुई तो संकट के बादल उमड़ आये। सवाल विभाग की मर्यादा का पैदा हो गया। सिपहिया आन पर आंच आने लगी थी। दोनों ओर से भृकुटि तन गई।

दरोगा जी ने हुकुम दिया, "मेरे कोट का बटन टूट गया है। दर्जी से टंकवा कर लाओ।"

सिपाही जी ने कोट संभाला और हैड मुहर्रिर के पास पहुंच गए। पूछा, "सिपाही की ड्यूटी में कोट का बटन टंकवाना कहीं दर्ज है, जरा दिखाओ?"

हैड मुहर्रिर ने पूरा एक घंटा सिर खपाया पर बटन टंकवाना पुलिस के ड्यूटी-शिड्यूल में नहीं ढूंढ़ सका । लेकिन था वह दरोगा जी का चमचा। उसके हाथों से भला दरोगा जी की बात कैसे गिर सकती थी। उसने सिपाही जी को अंतिम दर्ज लाइन पढ़वाई–"और वे सभी कार्य जिनका हुकुम सीनियर ऑफिसर समय-समय पर दे।" फिर समझाया, "कोट का बटन टंकवाना इसी धारा से कवर होकर सरकारी ड्यूटी में आ जाता है, समझे?"

बटन टंकवाना भी सरकारी ड्यूटी का हिस्सा है, इस बात से पूरी तरह आश्वस्त होकर सिपाही जी थाने से बाहर निकल आए। सरकारी नौकरी में सरकारी ड्यूटी तो करनी ही थी। दर्जी की ओर जाते-जाते कुछ सोचकर पहले बटनवाले की दुकान का रुख किया। कोट सामने करके बोले, "दरोगा जी का कोट है, बटन दिखाओ।"

सरकारी कोट देखकर दुकानदार ने सारा काम छोड़ दिया। मेल का बटन ढूंढ़ने में जी-जान से लग गया। मिला तो मुसकराकर सिपाही जी को देखा, "यह ठीक रहेगा।"

सिपाही जी को लगा कि यह दुकानदार जरूरत के मुताबिक एक बटन देकर टाल देगा। मुखमुद्रा की गंभीरता को बिना लोच दिए बोले, "एक दर्जन चाहिए।"

"लेकिन टूटा तो एक ही है, एक ही तो बदला जाएगा?" दुकानदार प्रश्नवाचक हो गया।

"यह कोट सरकारी है। इसके बटन टूटते ही रहते हैं। मैं बार-बार चक्कर लगाऊंगा क्या?" सिपाही गरजा।

दुकानदार ने चुपचाप एक दर्जन बटन गिन दिए। बटन मुट्ठी में संभाल सिपाही जी ने प्रश्न दागा, "कितने पैसे हुए?"

दुकानदार गिड़गिड़ाया, "पैसे कैसे! दरोगा जी का कोट है, इसके बटन के भी पैसे लेंगे क्या? आप बस दरोगा जी से हमारा नमस्कार कह दीजिएगा।"

"ठीक है, कह देंगे। समझ लो कि नमस्कार पहुंच गया।" सिपाही जी ने तेवर बदले और बोले, "समझदार आदमी लगते हो, हमें अब तुम्हारा पुराना

सुझाव ही ठीक जंच रहा है। बदला तो एक ही जाएगा, इसलिए तुम बाकी ग्यारह बटन वापस लेकर इनके पैसे दे दो।"

दुकानदार अवाक् होकर सिपाही जी का मुंह तकने लगा, लेकिन सिपाही जी के चेहरे के तनाव में कोई ढील नहीं आयी। कुछ सोचकर गल्ले से ग्यारह रुपये निकालकर सिपाही जी की ओर सरका दिये। सिपाही जी के माथे पर बल पड़ गये, "ये क्या, दरोगा जी के एक बटन की कीमत एक रुपया! महंगाई के जमाने में भी तुमने सरकारी माल इतना सस्ता समझा है? लूट मच रही है क्या? दरोगा जी के कोट का एक बटन दस रुपये से कम का नहीं हो सकता। निकालो एक सौ दस रुपये!"

दुकानदार के चेहरे पर मुर्दनी छा गई, पर सिपाही के चेहरे की रंगत नहीं बदली। दुकानदार की व्यवहार-कुशलता धरी की धरी रह गई। उसे सिपहिया भाषा में समझदार आदमी बने रहना ही श्रेयस्कर लगा। एक सौ दस रुपये के लिए क्या राड़ मोल लेनी! वह भी हाकिम से। यंत्रवत् एक सौ दस रुपये निकाल सिपाही के हाथ में थमा दिए।

सिपाही जी के होंठों पर मुसकान थिरक गई। ऐसी मुसकान जो सही तरीके से सरकारी ड्यूटी बजा लाने पर हर सरकारी कर्मचारी के होंठों पर बाजाब्ता उभर आती है। वह मस्ती से डंडा घुमाते हुए बटनवाले की दुकान से निकले और दर्जी की दुकान की ओर चल दिए। दर्जी शहर में नामी था। टेलर मास्टर कहलाता था। सिपाही जी उससे भी सरकारी बटन टंकवाने की सरकारी ड्यूटी को सही अंजाम देना चाहते थे, लेकिन लाख सोचने पर भी कोई ढंग की जुगत नहीं सूझ रही थी। धर्म-संकट आ पड़ा था। सरकारी खोपड़ी में सरकारी जुगाड़ नहीं बैठ रहा था। बटन वाले के सामने तो सरकारी धर्म की लाज रह गई थी लेकिन दर्जी के सामने यह इज्जत कैसे बचायें? अपनी सूझ-बूझ और अनुभव-ज्ञान पर भरोसा कर उन्होंने सरकारी कोट दर्जी के सामने कर दिया, "दरोगा जी का है, बटन टंकना है।"

टेलर मास्टर ने पहले कोट को देखा, फिर सिपाही को और हांक लगायी, "ओ सुरतिया, चाय लाओ।"

सिपाही जी ने चाय आने दी। माहौल को थोड़ा गरमाना जरूरी था। ठंड में सूझ-बूझ पक नहीं रही थी।

टेलर मास्टर ने दरोगा जी के कोट को हाथ में ले लिया और देखकर कहा-"लगता है धोबी ने तोड़ा है बटन। अब इस मेल का बटन भी मिलना मुश्किल होगा, फिर भी मैं देखता हूं..." कहकर टेलर मास्टर अपने बटन-स्टॉक की ओर मुड़ गए।

सिपाही जी ने विनम्रता से अपनी मुट्ठी खोल बटन पेश कर दिया, "दरोगा जी ने बटन साथ भेजा है, वह किसी का एहसान नहीं लेते।"

टेलर मास्टर कृतार्थ हो गए। बोले, "मैं क्या जानता नहीं हूं! अरसे बाद आए हैं ईमानदार दरोगा इलाके में। सारे बाजार में चर्चा है। लीजिए, आप चाय पीजियेगा।"

सिपाही ने गरमागरम चाय की चुस्की ली। बात को आगे बढ़ाते हुए बोले, "मैं तो बटन टंकवाते-टंकवाते तंग आ गया हूं। आए दिन टूटता रहता है बटन, बस बटन टंकवाने के अलावा थाने का कुछ काम ही नहीं कर पाता।"

"इस बार आप बेफिक्र रहें, मैं अपने हाथ से टांक रहा हूं। कोट फट जायेगा, पर बटन नहीं टूटेगा।" टेलर मास्टर ने अपने नाम और प्रसिद्धि के अनुरूप दावा किया।

"महीने-दो महीने को तो छुटकारा मिल जाएगा न?" सिपाही ने और आश्वस्त होना चाहा।

"महीने-दो महीने! अजी, सालभर के लिए बेफिक्र हो जाइए! मेरी गारंटी है!" कहकर टेलर मास्टर ने बटन में दो ऐंठन और ज्यादा दे दीं।

"साल भर की गारंटी पक्की है न?" सिपाही जी अभी तक भी आशंकित थे।

"मेरा टांका बटन टूट जाए तो जुर्माना भरने को तैयार हूं। आप चिंता न करें। बहुत मजबूती से टांका है।" टेलर मास्टर ने दरोगा जी का कोट सिपाही जी को वापस कर दिया। सिपाही जी के सरकारी ज्ञान-चक्षु खुल गए। लहजे में पूरी मिठास भरकर बोले, "देखिये, दरोगा जी का माल है। वह मेरी बात तो मानेंगे नहीं, आप एक कागज़ के पुर्जे पर गारंटी लिख दीजिये। उनको तसल्ली हो जायेगी।"

टेलर मास्टर थोड़ा सकपकाये। सिपाही जी के चेहरे को निहारा। सिपाही जी निर्विकार मुसकरा रहे थे। मुसकराहट में मित्रभाव था। दरोगा जी का मामला है। बटन की गारंटी में क्या जाता है, न हुआ तो दूसरा लगा दूंगा। सो एक पर्चे पर लिख दिया-'एक साल की गारंटी'।

सिपाही ने गारंटी पढ़ी। बोले, "आगे यह भी लिख दो न कि अगर बटन टूटा तो सौ रुपये जुर्माना भरोगे। खाली-पीली गारंटी से तो दरोगा जी लाल-पीले हो जायेंगे।"

अब टेलर मास्टर को लगा कि वह फंस रहा है या फंसाया जा रहा है। मुफ्त में बटन तो टंक चुका था और फिर भी दरोगा जी के लाल-पीले होने की नौबत आने लगी थी। आयी बला को टालने की गरज से उन्होंने फिर लिखा. 'गारंटी टूटने पर सौ रुपये का जुर्माना'।

सिपाही ने गारंटी उठाई, कोट संभाला और आश्वस्त-से होकर लौटने के लिए मुड़ गये। कुछ सोचकर फिर घूमे। टेलर मास्टर के पास आये। बोले, "मैं तो फंस गया, अब दरोगा जी की डांट जरूर पड़ेगी। आपने तो सौ रुपये की जुर्माने की गारंटी लिख दी, लेकिन इसे पूरी कौन करेगा? जब बटन टूटेगा तो आप तो वहां होंगे नहीं। दरोगा जी तो हमीं से सौ रुपये धरवा लेंगे। वह बड़े ऑफिसर हैं और हम मातहत। कुछ कह भी न पायेंगे। आपके सौ रुपये के चक्कर में अपनी तो नौकरी दांव पर लग गई समझो।"

टेलर मास्टर ने प्रतिवाद किया, "पर बटन टूटा तो नहीं! आप क्यों घबरा रहे हैं? बटन कहीं नहीं जायेगा।"

"यह खूब रही! बटन का क्या भरोसा, कभी भी टूट सकता है। अब आपके बटन के चक्कर में मेरी नौकरी तो खतरे में पड़ गयी न! क्या सौ रुपल्ली की बात और कहां पुख्ता सरकारी नौकरी!"

दरअसल अपनी सूझ-बूझ से सिपाही जी टेलर मास्टर को समझा रहे थे, कि "बच्चू, अब तुम फंस चुके हो, निकल नहीं पाओगे।"

टेलर मास्टर ने फिर दिलासा दिया, "आप बिलकुल बेफिक्र रहें, बटन टूटने वाला नहीं है।"

अब सिपाही जी तैश खा गये। बोले, "आप अपने बटन को देख रहे हैं और मुझे अपनी नौकरी की चिंता खाए जा रही है। अगर दरोगा जी को गारंटी के सौ रुपये नहीं दिए तो मेरी नौकरी आज ही खटाई में पड़ गयी समझो। जब दरोगा जी रुपये मांगेंगे तो मैं कहां से दूंगा भला, मैं तो गया काम से।"

सिपाही जी के तैश में रौब भी भरपूर था और झुंझलाहट का प्रदर्शन भी।

लंबी सांस भरकर टेलर मास्टर ने पूछा, "फिर मुझे क्या करना होगा?"

"आपने मुझे फंसाया है, तो आप ही निकालिये। मेरी नौकरी को तो आंच न आये। आप मुझे सौ रुपये अभी दे दीजिये। मैं गारंटी पूरी करने के लिए इन्हें हमेशा अपने पास रखूंगा। जैसे ही बटन टूटेगा, दरोगा जी को दे दूंगा। मेरी नौकरी बची रहेगी।"

"लेकिन बटन नहीं टूटा तो?"

"मैं गारंटी पीरियड के बाद आपके सौ रुपये वापस कर दूंगा। इसमें हेर-फेर की कोई बात ही नहीं है। आपकी गारंटी भी रहेगी और मेरी नौकरी भी।"

टेलर मास्टर अब तक समझ चुका था कि वह बुरी तरह फंस चुका है। जान छुड़ाने के लिए उसने गारंटी के सौ रुपये सिपाही को थमा दिये। सिपाही जी के होंठों पर फिर से मुसकान खेल गई। वही सरकारी ड्यूटी की सफलता वाली मुसकान।

सिपाही जी ने जब थानेदार साहब को बटन-टंका कोट लौटाया, तो उनकी मुखमुद्रा पर न कोई गुस्सा था, न झुंझलाहट। न वह पैर पटक रहा था और न हाथ झटक रहा था। अनुभवी दरोगा जी को लगा कि कहीं दाल में काला है। उन्होंने पूछा, "बटन कहां टंकवाया?"

सिपाही जी ने टेलर मास्टर का सुप्रसिद्ध नाम बता दिया और साथ ही बटनवाले को नमस्कार भी पहुंचा दी। बस, गारंटी अपनी जेब में ही दबा ली।

दरोगा जी ने गुपचुप अपना एक विश्वासपात्र टेलर मास्टर और बटनवाले के पास भेजा और पूरा विवरण संकलित किया। पूरी जानकारी प्राप्त कर दरोगा जी ने अपना सिर पकड़ लिया। अब वह सिपाही की इस व्यवहार-कुशलता का क्या करें! वह तो लहरें भी गिनेगा, तब भी माल बनाएगा। इतने विद्वान आदमी से वैर! इतने बड़े कारीगर से द्वेष! दरोगा जी को लगा उन्हें अपनी राय बदलनी होगी। उसूल ढीले करने होंगे। हृदय परिवर्तन करना होगा। वैमनस्य त्यागना होगा। सह-अस्तित्व के सिद्धांत को अपनाना होगा। समझौता करना होगा।

उन्होंने सिपाही जी को बुलाया, "सारा माल अकेले-अकेले हजम करोगे?"

सिपाही जी ने दरोगा जी के बदले स्वर को भांपा और सहज मुद्रा अपनायी, "नहीं, बीस प्रतिशत आपका है?"

"पर मैं तो पचास प्रतिशत लेता हूं।" दरोगा जी चहके।

"मैं तो बीस प्रतिशत देता रहा हूं।" सिपाही जी की मुखमुद्रा सौम्य थी। सहज।

"चलो, निकालो।" दरोगा जी ने समझौता करना ही श्रेयस्कर समझा।

सिपाही जी ने चालीस रुपये निकालकर दरोगा जी की ओर बढ़ा दिए।

"दो रुपये और।" दरोगा जी ने अपने मस्तिष्क के कैलकुलेटर पर हिसाब जोड़ रखा था।

"आगे हिसाब में लग जायेंगे।" कहकर सिपाही जी मुसकराए। समझौता हो गया था। संकट टल गया था। सरकारी आन और मर्यादा सुरक्षित रह गयी थी।

'उमंग' की व्यंग्य कथाएं : कुछ सम्मतियां

मैं तो बस यही कहूंगा कि ये व्यंग्य रचनाएं अद्वितीय हैं। वास्तव में आप विद्वान् और बुद्धिमान साहित्यकार हैं।

ए. एन. गुप्ता, मथुरा

काफी पैने व्यंग्य हैं। सबसे अधिक मुझे आपकी लेखन-शैली ने प्रभावित किया है। रचना का प्रवाह इस कदर चलता है कि पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है।

डॉ. फकीरचन्द शुक्ला, लुधियाना

आपकी भाषा-शैली, कथा-वस्तु तथा प्रवाह और प्रांजलता प्रशंसनीय है। बधाई।

संतोष दुबलिश, राजीव प्रकाशन, मेरठ

व्यंग्य में जो तीव्रता और पैनापन होना चाहिए, वह आपकी रचनाओं में पर्याप्त रूप से है।

देवेन्द्र कौर, मुजफ्फरपुर

आज ऐसी ही विचारोत्तेजक तथा व्यंग्य-प्रधान कथाओं की आवश्यकता है।

राधाकान्त भारती, नई दिल्ली

आप भारतीय समाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की खामियों पर व्यंग्य करने में माहिर हैं। यही कारण है कि ठोस विषयों के होते हुए भी आपकी रचनाएं रोचक और श्रेष्ठ हो जाती हैं।

नरेन्द्र देवांगन, रायपुर

अब तो आप यह बताएं कि कितनी दफा यह प्रमाण-पत्र भेजूं कि आप बेहद चुटीले व्यंग्य लिखते हैं।

सुरेन्द्र चतुर्वेदी, अजमेर

आपकी रचना सामाजिक प्रतिष्ठा के झूठे दम्भ व भ्रष्टाचार पर करारा तमाचा है।

अर्चना सौशिल्य, पटना

आपकी व्यंग्य कथाएं आधुनिक परिवेश में व्याप्त विसंगतियों, विद्रूपताओं एवं विकृतियों को रेखांकित करते हुए उन पर करारा प्रहार करती हैं।

डॉ. रोहिताश्व अस्थाना, हरदोई

सत्यप्रकाश अग्रवाल 'उमंग'

जन्म : 30 अप्रैल, 1942

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी एवं अंग्रेजी साहित्य), एल-एल. बी.

व्यापार : ज्वैलरी, एक्सपोर्ट एवं कॉलोनाईजेशन

परिवार : भरा-पूरा

विश्वास : जीवन एक कर्म-स्थली है, सुख-स्थली नहीं। सुख-दुःख तो इसमें बोनस के रूप में आते हैं — दुःख पुराने कर्ज़ उतारने के लिए और सुख परीक्षाओं के लिए।

निवास : 'मधु-भवन', 1127, पी. एल. शर्मा रोड, मेरठ-250001